अनुसंधान और आलोचना

नगेन्द्र
एम० ए०, डी० लिट०

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सडक दिल्ली

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९६१

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफरिन पुल, दिल्ली

बापू—कविवर सियारामशरण गुप्त

को

स्नेह-भेंट

निवेदन

प्रस्तुत सकलन मे मेरे आलोचक मन के कई रूपा की अभिव्यक्ति मिलेगी।

अनुसधान और आलोचना के भेदाभेद का केवल सद्धातिक विवेचन ही यहा नहीं हुआ है, दोनो का व्यावहारिक सम्बन्ध भी कुछ निबधो के स्वरूप से स्पष्ट हो जायेगा। 'रस शब्द का अथ विकास' मे जहा अनुसधान का अनासक्त रूप मिलेगा, वहा 'कामायनी का महाकाव्यत्व' की स्थापनाओ मे आसक्ति की सजीवनी प्ररणा भी स्पष्ट है।

दो एक लेखो मे सिद्धात कथन है और कुछ म आलोचना के साथ ऐतिहासिक परिवेश भी जुडा हुआ है।

'अनुसधान और आलोचना' इस पुस्तक का नाम ही है, विशेषण नहीं। इसके दो व्यक्तिपरक निबध न अनुसधान हैं और न आलोचना—वे तो सस्मरण या ललित निबध मात्र हैं, यद्यपि उनके मूल मे भी आलोचनात्मक दृष्टि का एकात अभाव नहीं है।

इस प्रकार इन निबधो म पर्याप्त वस्तु भेद है। फिर भी मूल दृष्टि के अभेद के कारण इनकी एकता कदाचित् खण्डित नहीं हुई।

नवीन-जयती ८ १२ ६१
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

—नगेद्र

क्रम

साहित्य का धर्म

इस देश में साहित्य और धर्म का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध रहा है कि आधुनिक साहित्य स्रष्टा और आलोचक को इन दोनों को पृथक् करने के लिए परिश्रम करना पड़ा। पाश्चात्य समीक्षकों ने जब यह कहकर भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह शुद्ध साहित्य की ऐहिक विभूतियों से हीन प्राय धर्म का ही अंग है, तो भारत की प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना के लिए अपने साहित्य की धर्म निरपेक्ष सत्ता की स्थापना अनिवार्य हो गई। परिवर्तन काल में मूल्यों में कुछ ऐसी अस्थिरता आ गई कि साहित्य और धर्म में एक प्रकार से विरोध का आभास होने लगा। इस धारणा का अभी अंत नहीं हुआ है और इसका कारण यह है कि साहित्य और धर्म दोनों ही शब्दों के अर्थ अत्यंत अनिश्चित हैं। आज भी शब्दार्थ की यह न्यूनता भ्रांति उत्पन्न कर सकती है, अतः साहित्य और धर्म शब्दों के अर्थ का निश्चय आज के इस परिसंवाद की पहली आवश्यकता है।

साहित्य—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत प्रसंग में दो शब्दों का प्रयोग होता है—(१) वाङ्मय और (२) साहित्य। पारिभाषिक दृष्टि से वाङ्मय का अर्थ अधिक व्यापक है, उसकी परिधि में वाणी का सम्पूर्ण आलेख आ जाता है। वाङ्मय के दो प्रमुख भेद हैं इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यञ्च (राजशेखर)। आधुनिक शब्दावली में शास्त्र का अर्थ है ज्ञान का साहित्य और काव्य का अर्थ है रस का साहित्य। आज के परिसंवाद के अंतर्गत साहित्य का अभीष्ट अर्थ है रस का साहित्य (वस्तुतः संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'रस के साहित्य' के अर्थ में ही होता है—उसका वर्तमान व्यापक रूप और तज्जन्य अस्थिरता उसे अंगरेज़ी शब्द 'लिटरेचर' का पर्याय मान लेने का परिणाम है। संस्कृत में इसका स्वरूप और प्रयोग सर्वथा परिनिष्ठित है काव्य=साहित्य=रस का साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर—अंगरेज़ी)। साहित्य का शाब्दिक अर्थ है, सहित का भाव अर्थात् सहभाव। कुछ विद्वानों ने सहित का अर्थ हितसहित या कल्याणमय करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह वर्तमान वाग्विलास है,

काव्य शास्त्र में उसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी आधुनिक विचारधारा के संदर्भ में उसका अर्थ विस्तार किया है "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव भाव का, भाषा भाषा का, ग्रंथ ग्रंथ का मिलन नहीं है, परन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का—अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है। किन्तु यह भी कवि के अपने वदान्य का चमत्कार है। शास्त्र में उसका एक ही निर्भ्रान्त अर्थ है—शब्द अर्थ का सहभाव शब्दार्थयो यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या —(राजशेखर)। सहभाव का यहाँ निर्दिष्ट अर्थ है—पूर्ण सामंजस्य, ऐसा समभाव, जिसमें दोनों में से कोई न न्यून हो और न अतिरिक्त यही साहित्य का तात्त्विक अर्थ है। अतः साहित्य से अभिप्रेत है वाङ्मय का वह रूप जिसमें शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य हो। यह एक ओर शास्त्र से भिन्न है क्योंकि उसमें अर्थ की गुरुता शब्द को भाराक्रांत कर देती है और दूसरी ओर संगीत आदि से भी जिसमें शब्द की तरलता में अर्थ का क्षय हो जाता है।

दूसरा शब्द है धर्म। धर्म का व्युत्पत्त्यर्थ है—ध्रियते अनेन य स धर्म, जो धारण करे वह धर्म है। वे मूल विशेषताएं या गुण जो किसी पदार्थ के अस्तित्व को धारण करते हैं (ऐसे शक्य)—संक्षेप में प्राण-तत्त्व, मूल प्रवृत्ति, प्रकृति या स्वभाव। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है कर्तव्य कर्म जो मूल अर्थ का ही विकास है क्योंकि प्रवृत्ति ही अनुशासित होकर कर्तव्य का रूप धारण कर लेता है। अतएव धर्म का समन्वित अर्थ होता है प्रकृति और कर्तव्य कर्म।

इस प्रकार साहित्य के धर्म के अंतर्गत आज हमारा विवेच्य विषय है—आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली में ललित वाङ्मय की प्रकृति और उद्देश्य और संस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'काव्य की आत्मा एवं प्रयोजन।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, शास्त्र की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य—अर्थ का शब्द के साथ पूर्ण तादात्म्य वाणी की चरम सिद्धि है। तत्त्व रूप में अर्थ आत्मा की अनुभवज्ञानमयी स्थिति का ही नाम है और शब्द का अर्थ है प्राकट्य, अतः अर्थ का शब्द रूप में प्राकट्य आत्म साक्षात्कार की ही एक प्रमुख प्रक्रिया है। भारतीय काव्य दर्शन में इसी तर्क के आधार पर अर्थ को शम्भु और शब्द को शिवा या शक्ति कहा गया है—एषोऽस्य अग्नीषोमौ—और उन दोनों के अर्धनारीश्वर रूप में साहित्य की कल्पना की गयी है। आत्म-साक्षात्कार का ही नाम आनन्द है। प्रकृति के विविध उपादानों के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता

रहता है—यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है, साधना की सफलता विफलता ही जीवनगत सुख-दु ख और उसकी सिद्धि ही 'ग्रान द' है जो सुख और दु ख से अतीत पूण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। ग्रान द का मूल रूप एक और अखण्ड है, माध्यम भेद से उसके नामो म भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो ग्रात्म सिद्धि प्राप्त होती है उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अथ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है—रस उसका अतरग लक्षण है, बहिरग विशेषण मात्र नही है। एक शब्द म साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्य शास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और ग्राप्त है कि उसम लक्षण और प्रयोजन —साधन और सिद्धि—शरीर और ग्रात्मा का भेद मिट जाता है।

[ग्रमृतसर—सत विनोबा के तत्त्वावधान म ग्रायोजित साहित्य-गोष्ठी मे दिया गया वक्तव्य]

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है। अनेक आलोचक यह मानते हैं कि कविता की परिभाषा और स्वरूप विवेचन संभव नहीं है परन्तु मेरा मन इतनी जल्दी हार मानने को तैयार नहीं है। यों तो जीवन के सभी सूक्ष्म और गहन सत्य सरलता से परिभाषा का बंधन स्वीकार नहीं करते फिर भी जिसकी अनुभूति हो सकती है उसके विवेचन को मैं असंभव नहीं मानता। अपूर्ण वह अवश्य रहेगा, परन्तु अपूर्णता तो भाषा की सहज परिसीमा है वह तो किसी भी अनुभव की अभिव्यक्ति पर घट सकती है। फिर कविता की परिभाषा के विषय में ही इतनी निराशा क्यों।

मैं एक उदाहरण लेकर इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करूँगा—

स्याम गौर किमि कहहु बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

तुलसी की यह अर्धाली कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है, इसमें संदेह नहीं हो सकता, शताब्दियों से सहृदय समाज इसके कवित्व की प्रशस्ति करता आया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध आदि समर्थ प्रमाता मुक्तकण्ठ से इसका यशोगान कर चुके हैं।

राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य से प्रभावित सीता की सखी की यह सहज भावाभिव्यक्ति है श्यामांग राम और गौर वर्ण लक्ष्मण के सौंदर्य का वर्णन किस प्रकार संभव हो सकता है ! क्योंकि वर्णना की माध्यम इंद्रिय वाणी नेत्रविहीन है और सौन्दर्य दर्शन के माध्यम नेत्रों के वाणी नहीं है। अर्थात् नेत्र उनके सौन्दर्य का आस्वाद तो कर सकते हैं किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकते और वाणी उस सौंदर्य का वर्णन करने में तो समर्थ है किन्तु उसका वास्तविक आस्वाद वह नहीं कर सकती। इसका मूल भाव है सौन्दर्य के प्रति प्रबल सात्विक आकर्षण—इन शब्दों में पुरुष के सौंदर्य के प्रति नारी का सहज उन्मुखी भाव व्यंजित है। इस उन्मुखी भाव में वासना का कर्दम नहीं है, अर्थात्

वयक्तिक इच्छा और उसकी पूर्ति के फलस्वरूप ऐंद्रिय मानसिक सुख की लिप्सा का मिश्रण नहीं है। अन यहाँ सात्विक सौन्दय चेतना की व्यजना है। औचित्य की दृष्टि से यह व्यजना सवथा स्तुत्य है। राम और लक्ष्मण अभी पर पुरुष हैं—कवि की योजना के अनुसार वे सीता और उर्मिला के वरेण्य हैं—इस दृष्टि से सखी की भाव-व्यजना म वासना (वयक्तिक इच्छा) का समावेश किसी प्रकार भी उचित नहीं था। कवि को तो यहाँ सीता क पूवराग का उद्दीपन ही अभीष्ट है। अतएव सखी की इस उक्ति म वह केवल विस्मय और उल्लास से युक्त तीव्र आकषण की ही व्यजना करता है। साराश यह है कि प्रस्तुत सूक्ति म 'औचित्य' द्वारा अनुमोदित, अर्थात् नतिक मनोवज्ञानिक दृष्टि स शुद्ध जीवन के अत्यन्त मधुर भाव किशोर वय के आवषण की अभिव्यजना है।

अब अभिव्यजना की दृष्टि से परीक्षा कीजिय। प्रस्तुत प्रसग म कवि का साध्य है—सौन्दय द्वारा उत्पन्न प्रभाव का सप्रेषण। सौन्दय का प्रभाव निश्चय ही एक अमूत तथा मिश्र प्रतिक्रिया है जिसम रति, उल्लास, क्रीडा आदि अनेक भावों का समन्वय है। वक्ता की 'मुग्धा' अवस्था के कारण अभिव्यजना और भी कठिन हो जाती है। अत कवि न वणना की चेष्टा ही नहीं की—'किमि कहहुँ बखानी' ? के द्वारा अर्थात् वणन की असमथता की स्वीकृति के द्वारा सौन्दय की अनिवचनीयता की व्यजना की है। यह अनिवचनीयता 'अतिशय' की द्योतक है। किन्तु अनिवचनीय होते हुए भी वह अनुभवातीत नहीं है—वास्तव म वक्ता को उसकी अत्यन्त प्रबल अनुभूति ही रही है। अर्थात् यह सौन्दय इतनी तीव्र अनुभूति उत्पन्न करता है कि उसको व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं। इस प्रकार कवि सौन्दय की सूक्ष्म किन्तु तीव्र अनुभूति का वणन न कर, वक्ता की असमथता द्वारा उसकी व्यजना करता है। यह वणन की वक्र-शली है जिसे कुतक ने 'सवृति-वक्रता' के नाम से अभिहित किया है। दूसरे चरण म असमथता का कारण दिया गया है—वाणी के नेत्र नहीं हैं और नेत्रों के वाणी नहीं है, अलकार-शास्त्र म इसका नाम अर्थान्तरन्यास है। इस उक्ति म लक्षणा का चमत्कार है, क्योंकि शरीरहीन वाणी म नेत्रों की और इसी प्रकार नेत्रों म वाक् शक्ति की कल्पना सामान्यत निराधार है। अत लक्षणा के आधार पर ही यह उक्ति साथक बनती है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रच्छन्न विरोधाभास भी विद्यमान है—प्रत्यक्ष रूप से यह अत्यन्त स्पष्ट तथ्य है, किन्तु लक्षणा का आधार इसम तक की शक्ति उत्पन्न कर देता है। वाच्याथ और लक्ष्याथ के बीच यह विरोधाभास निश्चय ही चमत्कार का कारण है।

इसी प्रकार आरम्भ के दोनों शब्दों—स्याम और गौर—म भी चमत्कार

विद्यमान है। ध्वनिवादी जिसे पर्यायध्वनि, वक्रोक्तिवादी विशेषण वक्रता और अलंकारवादी किसी लक्षणामूलक अलंकार का नाम दे सकते हैं।

अब नाद-सौंदर्य की दृष्टि से लीजिये। उद्धृत अर्धाली में अत्यन्त प्रसन्न पदावली का प्रयोग है जिसमें सूक्ष्म वर्णमैत्री ने नाद-सौंदर्य की कोमल अनुगूंज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के वर्णों की आवृत्ति और दूसरे चरण में 'न' की आवृत्ति के द्वारा सहज वर्ण-सामंजस्य पर आश्रित शब्द-संगीत का सृजन किया है। उधर लघुमात्रिक चौपाई छंद मुग्धा के मन की इस भाव-तरंग का अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है।

अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस तत्त्व का नाम कविता है? मूल भाव अर्थात् सौंदर्य-चेतना का? उक्ति वक्रता अथवा अलंकार के चमत्कार का? अथवा वर्णमैत्री का? या फिर छन्द संगीत का? उत्तर भी कठिन नहीं है। मूल भाव कविता नहीं है—यहाँ संयोग से यह भाव सौंदर्यानुभूति है, सामान्यतः कुछ भी हो सकता है। किन्तु भाव कविता नहीं है जीवन में सब मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं पर वह कविता तो नहीं कही जा सकती। न जाने कितने स्त्री पुरुष, और तिर्यक योनि में भी न जाने कितने नर मादा एक दूसरे के यौवन सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु इस आकर्षण को कविता तो नहीं कहा जा सकता।

तो क्या उक्ति वक्रता कविता है? अर्थात् क्या सौंदर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति से शब्दबद्ध करना कविता है? नहीं क्योंकि अपने नित्यप्रति के व्यवहार में हम अपने आशय को न जाने कितनी बार अनेक वचन भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। वह तो कविता नहीं है। क्या अलंकार का चमत्कार—नयन और 'वाणी' का लाक्षणिक प्रयोग, अथवा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सूक्ष्म विरोधाभास कविता है? यहाँ कतिपय काव्य रसिक तक वितर्क कर सकते हैं। किन्तु मेरा स्पष्ट मत है—'नहीं'। क्योंकि बोलचाल में निरन्तर हम न जाने मुहावरों के रूप में कितने लाक्षणिक प्रयोग करते रहते हैं। विरोधाभास का चमत्कार भी सभा चतुर व्यक्तियों के लिए साधारण चमत्कार है। यह सब तो कविता नहीं है। इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष के कल्पनात्मक समर्थन को भी कविता कैसे कहा जाय! नवीन आलोचना शास्त्र की शब्दावली में उक्ति-वक्रता, लाक्षणिक प्रयोग, अलंकार चमत्कार आदि में कल्पना का वैभव है। अतएव सारतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केवल भाव कविता नहीं है, उसी प्रकार केवल कल्पना भी कविता नहीं है।

अब रह जाता है संगीत-तत्त्व—वर्ण संगीत और लय-संगीत। वह भी

निश्चय ही कविता नही है क्योंकि वर्ण सगीत और लय-सगीत दोनो ही निरर्थक पदावली म भी सम्भव हैं ।

तो फिर वास्तव म कविता क्या है ? इन सभी तत्वों का समन्वय कविता है । यह समस्त अवली ही कविता है । सौंदर्य चेतना कविता नही है, उक्ति वक्रता कविता नही है अर्थान्तरन्यास अलकार कविता नहीं है, वर्ण-सगीत कविता नही है, चौपाई की लय कविता नही है । इन सबका समजित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव, उक्ति-वचित्र्य और वर्ण लय-सगीत तीनो ही मिलकर कविता का रूप धारण करते है । अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनो की स्थिति अनिवार्य है ? क्या इनम से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व म बाधक होगा ? उदाहरण के लिए क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नही हो सकती ? इसका उत्तर दने स पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है । —रमणीय का अर्थ केवल मधुर नहीं है—कोई भी भाव, जिसमे सारे मन को रमाने की शक्ति हो, रमणीय है । इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावो के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य म होते ही हैं । मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक तो केवल प्रेम, श्रद्धा, विस्मय आदि सुखद भाव ही रमणीय नहीं हैं, शोक, ग्लानि, अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते हैं । दूसरे, भावो के सभी रूप रमणीय नही होते, शृगार जसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाव्योचित हो सकते हैं होते है । जीवन की इन अनुभूतियो के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमे सहृदय की प्रवृत्तियो म सामजस्य स्थापित करने की शक्ति हो । भाव की रमणीयता इसी का नाम है । तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव मे कविता नहीं हो सकती ? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नही, इसके अभाव में जो चमत्कार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक चमत्कार हो हो सकता है, जसे पहेली के समाधान आदि म मिलता है । तथाकथित चित्रकाव्य म इसीकी उपलब्धि होती है । बौद्धिक चमत्कार कविता का धर्म नहीं है, अत जिस उक्ति स केवल बौद्धिक चमत्कार प्राप्त होता है वह कविता नही । अब दूसरा तत्त्व लीजिए—उक्ति-वचित्र्य । क्या उक्ति-वचित्र्य के बिना कविता हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर के विषय म बडा मतभेद है । आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ मत है कि हाँ, हो सकती है । प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय म यही मत था—कदाचित् शुक्ल जी की यही धारणा है । परन्तु मुझे सदेह है आनन्दवर्धन आदि रसध्वनिवादी तो ध्वनि के साथ कल्पना की

अनिवार्यता मानकर काव्योक्ति म वचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि कल्पना के योग का नाम ही तो वचित्र्य है। शुक्ल जी ने भी अनेक प्रसगो म इस भाव प्रेरित वक्रता का यशोगान किया है किन्तु अपने पूववर्ती काव्य के अतिशयचमत्कारवाद स क्षुब्ध होकर सिद्धान्त रूप म वे उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचाय शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इसम एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयसिद्ध तत्व का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवायत उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वचित्र्य है, इसलिए व्यापक अथ म उक्ति वचित्र्य का अभाव कविता म सभव नहीं है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति वचित्र्य के अभाव म कविता नहीं हो सकती। तीसरा तत्त्व है सगीत। इसके विषय म तो मतभेद और भी अधिक हैं। सस्कृत काव्यशास्त्र का निर्भ्रान्त मत है कि छन्द कविता का वकल्पिक उपकरण है। उधर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छन्द के अभाव म कविता तो क्या, साहित्य के किसी रूप की कल्पना सम्भव नहीं थी। यूरोप म इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कालरिज जसे आलोचक छन्द को वकल्पिक मानते थे, दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत मे छन्द या सगीत कविता का अनिवाय माध्यम था। मेरा मत भी छन्द के 'इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवाय तत्त्व मानने के ही पक्ष म है। छन्द कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य रूप की अपनी अपनी सहज विधा है नाटक के लिए सवाद, कथा साहित्य के लिए वणनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवचनात्मक गद्य निबन्ध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छन्द। नाटक के रग-सकेतो म वणनात्मक गद्य का प्रयोग होता है, उपन्यास म सवाद का, आलोचना म ललित गद्य का और निबन्ध म विश्लेषात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता म लययुक्त गद्य सगीत का कुछ कवियो ने सफल प्रयोग किया है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है यहाँ एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा म प्रवेश कर जाते हैं, जसे वास्तुकला म मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्राय होता आया है। वास्तव म समस्त कला तथा साहित्य रूपो का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप विधाएँ भिन्न हैं, अत उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करत रहते हैं। नाटक म आख्यान-तत्त्व का, उपन्यास म नाटय-तत्त्व का आलोचना में लालित्य का समावश हो जाता है, परन्तु फिर भी उनके वशिष्ट्य में कोई अन्तर नहीं पडता। इसी प्रकार गद्य साहित्य के अनक रूप रस के प्राचुय

से काव्यात्मक हो सकते हैं, और कविता म भी नाटय-तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी, किन्तु वह उसका सहज या शुद्ध रूप नहीं है। मेरे कहने का तात्पय यह है कि नाटक, उपन्यास, निबध आदि की भाति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस, किन्तु माध्यम के आधार पर इनम परस्पर भेद है जो इनके वशिष्टय की रक्षा करता है। कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छद। सस्कृत काव्य शास्त्र म काव्य—रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अन्तगत नाटक उपन्यास आदि का समावेश है। आज काव्य और कविता म भेद हो गया है काव्य समस्त रस-साहित्य या पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की शब्दावली म सजनात्मक साहित्य का पर्याय है कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है, जो छन्द के माध्यम के कारण अन्य रूपो से भिन्न है।

साराश यह है कि पूर्वोक्त तीनो तत्त्व—रमणीय अनुभूति, उक्ति-वचित्र्य और छन्द अर्थात् वर्ण-सगीत और लय-सगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमे से किसी एक का नाम कविता नही है, इन तीनो का समजित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अनिवार्य अग हैं। तीसरा तत्त्व अर्थात् छन्द ही कविता को काव्य के अन्य रूपो से पृथक करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है। यहाँ एक और शका का भी समाधान कर लेना अनुपयुक्त न होगा। वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपो और कविता में केवल रूप विधा अथवा माध्यम का ही अन्तर है, और स्पष्ट शब्दो म—क्या उपन्यास और प्रबन्ध काव्य मे केवल यही अन्तर है कि एक अनियत लय गद्य म लिखा हुआ है और दूसरा नियतलय छन्द मे ? क्या दोनो के भाव तत्त्व अथवा मूल सवेद्य म कोई अन्तर नही है ? अनेक आलोचकों के मत से दोनो म मूल सवेद्य का अन्तर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबन्ध काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस धारणा म केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पडता है। उदाहरण के लिए जगल मे वृन्त पर खिले हुए गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे म गुलदस्ते मे सजे हुए गुलाब की सौंदर्यानुभूति म थोडा अन्तर निश्चय ही पड जाता है। इसी प्रकार यह निर्विवाद है कि रसात्मक तत्त्व के अतिशय के कारण ही कविता स्वभावतया छन्द के माध्यम से स्फुरित होती है और छन्द का सगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी समृद्ध कर देता है। इस दृष्टि

अनिवार्यता मानकर कान्योक्ति में वचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि कल्पना के योग का नाम ही तो वचित्र्य है। शुक्ल जी ने भी अनेक प्रसगो म इस भाव प्रेरित वक्रता का यशोगान किया है, किन्तु अपने पूववर्ती काव्य के अतिशय चमत्कारवाद से क्षुब्ध होकर सिद्धात रूप म व उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नही कर सकता, क्योंकि इसम एक अनिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयसिद्ध तथ्य का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवायत उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वचित्र्य है, इसलिए व्यापक अथ म उक्ति वचित्र्य का अभाव कविता म सभव नही है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-वचित्र्य के अभाव म कविता नही हो सकती। तीसरा तत्त्व है सगीत। इसके विषय म तो मतभेद और भी अधिक हैं। सस्कृत काव्यशास्त्र का निर्भ्रान्त मत है कि छन्द कविता का वकल्पिक उपकरण है। उधर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छद के अभाव म कविता तो क्या, साहित्य के किसी रूप की कल्पना सम्भव नहीं थी। यूरोप म इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कालरिज जसे आलोचक छन्द को वकल्पिक मानते थे दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत से छन्द का सगीत कविता का अनिवाय माध्यम था। मेरा मत भी छन्द के इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवाय तत्त्व मानने के ही पक्ष म है। छन्द कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य रूप की अपनी अपनी सहज विधा है नाटक के लिए सवाद कथा-साहित्य के लिए वर्णनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य निबन्ध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छन्द। नाटक के रग सकेतो म वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है उपन्यास म सवाद का, आलोचना मे ललित गद्य का और निबन्ध म विश्लेषणात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता म लययुक्त गद्य-सगीत का कुछ कवियो ने सफल प्रयोग किया है। किन्तु यह सहज स्थिति नही है यहाँ एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा म प्रवेश कर जाते हैं जसे वास्तुकला म मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्राय होता आया है। वास्तव म समस्त कला तथा साहित्य रूपो का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप विधाएँ भिन्न हैं, अत उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक म आख्यान-तत्त्व का, उपन्यास म नाटय-तत्त्व का आलोचना म लालित्य का समावेश हो जाता है, परन्तु फिर भी उनके वशिष्ट्य म कोई अन्तर नही पडता। इसी प्रकार गद्य साहित्य के अनेक रूप रस के प्राचुय

भी काव्यात्मक हो सकते हैं, और कविता में भी नाट्य-तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी, किन्तु यह उसका सहज या शुद्ध रूप नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि की भाँति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस, किन्तु माध्यम के आधार पर इनमें परस्पर भेद है जो इनके वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छंद। संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य—रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अन्तर्गत नाटक-उपन्यास आदि का समावेश है। आज काव्य और कविता में भेद हो गया है। काव्य संस्कृत रस-साहित्य या पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की शब्दावली में सर्जनात्मक साहित्य का पर्याय है, कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है, जो छंद के माध्यम के कारण अन्य रूपों से भिन्न है।

सारांश यह है कि पूर्वोक्त तीनों तत्त्व—रमणीय अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य और छंद अर्थात् वर्ण-संगीत और लय प्रतीति—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक का नाम कविता नहीं है, इन तीनों का समन्वित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य में भी अनिवार्य अंग हैं। तीसरा तत्त्व अर्थात् छंद ही कविता को काव्य के अन्य रूपों से पृथक् करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छंद है। यहीं एक और शंका का भी समाधान कर लेना अनुपयुक्त न होगा। वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपों और कविता में केवल रूप विधा अथवा माध्यम का ही अन्तर है, और स्पष्ट शब्दों में—क्या उपन्यास और प्रबन्ध काव्य में केवल यही अन्तर है कि एक अनियत-लय गद्य में लिखा हुआ है और दूसरा नियत-लय छन्द में? क्या दोनों के तत्त्व अथवा मूल संवेद्य में कोई अन्तर नहीं है? क्या दोनों के भाव-में मूल संवेद्य का अन्तर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबन्ध काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस धारणा में केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, उपवन में वृन्त पर खिले हुए गुलाब और ड्राइंग-रूम की सजावट में गुलदस्ते में सजे हुए गुलाब की सौरभ के आस्वाद में अन्तर पड़ जाता है। इसी प्रकार यह निश्चित है कि ... अन्तर निश्चय ही के कारण ही कविता स्वभावतया छन्द के माध्यम से ... तत्त्व के अतिरिक्त छन्द का संगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी प्रखर कर देता है। इस ही

अनिवार्यता मानकर काव्योक्ति मे वचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि कल्पना के योग का नाम ही तो वचित्र्य है। शुक्ल जी ने भी अनेक प्रसगो म इस भाव प्रेरित वक्रता का यशोगान किया है, किन्तु अपने पूर्ववर्ती काव्य के अतिशयचमत्कारवाद से क्षुब्ध होकर सिद्धान्त रूप म वे उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इसम एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयसिद्ध तक का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यत उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वचित्र्य है, इसलिए व्यापक अथ म उक्ति वचित्र्य का अभाव कविता म सभव नही है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-वचित्र्य के अभाव म कविता नही हो सकती। तीसरा तत्त्व है सगीत। इसके विषय म तो मतभेद और भी अधिक हैं। सस्कृत काव्यशास्त्र का निर्भ्रान्त मत है कि छन्द कविता का वकल्पिक उपकरण है। उधर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छन्द के अभाव म कविता तो क्या, साहित्य के किसी रूप की कल्पना सम्भव नही थी। यूरोप मे इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कालरिज जसे आलोचक छन्द को वकल्पिक मानते थे दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत से छन्द का सगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था। मेरा मत भी छन्द के 'इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवार्य तत्त्व मानने के ही पक्ष म है। छन्द कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य रूप की अपनी अपनी सहज विधा है नाटक के लिए सवाद, कथा साहित्य के लिए वर्णनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य, निबन्ध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छन्द। नाटक के रग सकेतों म वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है, उपन्यास म सवाद का, आलोचना म ललित गद्य का और निबन्ध म विश्लेषात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता म लययुक्त गद्य-सगीत का कुछ कवियो ने सफल प्रयोग किया है। किन्तु यह सहज स्थिति नही है यहाँ एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा म प्रवेश कर जाते हैं जसे वास्तुकला म मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्राय होता आया है। वास्तव म समस्त कला तथा साहित्य रूपो का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप विधाएँ भिन्न हैं अत उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक म आख्यान-तत्त्व का उपन्यास म नाटय-तत्त्व का, आलोचना म लालित्य का समावेश हो जाता है, परन्तु फिर भी उनक वशिष्ट्य मे कोई अन्तर नही पडता। इसी प्रकार गद्य-साहित्य के अनेक रूप रस के प्राचुर्य

से काव्यात्मक हो सकते हैं, और कविता में भी नाट्य-तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी, किन्तु वह उसका सहज या शुद्ध रूप नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि की भाँति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस, किन्तु माध्यम के आधार पर इनमें परस्पर भेद है जो इनके वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। कविता नाम की साहित्य विधा का माध्यम है छंद। संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य—रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अन्तर्गत नाटक-उपन्यास आदि का समावेश है। आज काव्य और कविता में भेद हो गया है काव्य समस्त रस-साहित्य या पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की शब्दावली में सृजनात्मक साहित्य का पर्याय है, कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है, जो छन्द के माध्यम के कारण अन्य रूपों से भिन्न है।

सारांश यह है कि पूर्वोक्त तीनों तत्त्व—रमणीय अनुभूति, ध्वनि-वैचित्र्य और छन्द अर्थात् वर्ण-संगीत और लय संगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक का नाम कविता नहीं है, इन तीनों का समंजित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अनिवार्य अंग हैं। तीसरा तत्त्व अर्थात् छन्द ही कविता को काव्य के अन्य रूपों से पृथक करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है। यहाँ एक और शंका का भी समाधान कर लेना अनुपयुक्त न होगा। वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपों और कविता में केवल रूप विधा अथवा माध्यम का ही अन्तर है, और स्पष्ट शब्दों में—क्या उपन्यास और प्रबन्ध काव्य में केवल यही अन्तर है कि एक अनियत लय गद्य में लिखा हुआ है और दूसरा नियतलय छन्द में ? क्या दोनों के भाव तत्त्व अथवा मूल संवेद्य में कोई अन्तर नहीं है ? अनेक आलोचकों के मत से दोनों में मूल संवेद्य का अन्तर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबन्ध काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस धारणा में केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, जंगल में वृन्त पर खिले हुए गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे में गुलदस्ते में सजे हुए गुलाब की सौंदर्यानुभूति में थोड़ा अन्तर निश्चय ही पड़ जाता है। इसी प्रकार यह निर्विवाद है कि रसात्मक तत्त्व के अतिशय के कारण ही कविता स्वभावतया छन्द के माध्यम से स्फुरित होती है और छन्द का संगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी समृद्ध कर देता है। इस दृष्टि

से आस्वाद अथवा मूल संवेद्य में भी थोड़े से अन्तर की कल्पना असंगत नहीं है, किन्तु यह अन्तर मात्रा का अन्तर है, प्रकार या प्रकृति का अन्तर नहीं। इसलिए मैं अपनी उस स्थापना को फिर यथावत् दोहराता हूँ कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है।

अन्त में, एक मौलिक समस्या का समाधान कर इस प्रसंग को समाप्त कर दूंगा। काव्य शास्त्र में मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन आलोचकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कविता एक अनुभूति अथवा अनुभूतियों का वर्ग है। उदाहरण के लिए इस युग के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेज आलोचक रिचर्ड्स का कथन है कि कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है। तुलसीदास की पूर्वोक्त अर्धाली को ही आधार मानकर चलें तो यह कहा जा सकता है कि इन आलोचकों के मत से 'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कविता नहीं है वरन् इससे प्राप्त सौन्दर्य की अनुभूति ही कविता है। बात निश्चय ही बहुत गहरी है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उससे उलझन ही पैदा होती है। इसीलिए कदाचित् अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक आधार ग्रहण करने पर भी भारतीय आचार्य इस प्रपंच में नहीं पड़े उसकी व्यवहार-बुद्धि ने सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट शब्दों में रस कहा है और इस अनुभूति को उत्पन्न करनेवाले शब्दार्थ को कविता। तत्त्व दृष्टि से कदाचित् रिचर्ड्स का मत ही ठीक हो, किन्तु व्यवहार दृष्टि से—समझने समझाने की दृष्टि से—हमारे आचार्यों की स्थापना ही ग्राह्य है 'शब्दार्थौ काव्यम्'। इस प्रकार मैं घूम फिर कर फिर वहीं पहुँच जाता हूँ रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी छन्दोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है।

'रस' शब्द का अर्थ-विकास

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र। यद्यपि दर्शन में भी, विशेषकर आनन्दवादी आगम-ग्रन्थों में, आनन्द-तत्त्व के व्याख्यान के अन्तर्गत सौन्दर्य की अनुभूति के विषय में प्रचुर उल्लेख मिलता है, फिर भी सौन्दर्य के आधार और स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्र में ही मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य चेतना एक मिश्र वृत्ति है—इसके अन्तर तत्त्व हैं (१) प्रीति अर्थात् आनन्द और (२) विस्मय। भारतीय काव्यशास्त्र इस रहस्य से आरम्भ से ही अवगत था: उसके दो प्रतिनिधि सिद्धान्त—रस और अलंकार—क्रमशः प्रीति और विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आधार में प्रीति-तत्त्व का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित और विकसित हुआ और उधर विस्मय-तत्त्व की प्रमुखता ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण किया। इन दोनों में रस-सिद्धान्त केवल कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं वरन् प्रभाव और प्रसार की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का आधार सिद्धान्त यही है।

'रस' भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है : (१) पदार्थों का रस अर्थात् भौतिक रस—द्रव, जिसे [illegible] (२) आयुर्वेद का रस, (३) साहित्य का रस, और इसी से मिलता-जुलता (४) मोक्ष या भक्ति का रस। भौतिक के रस से [illegible] का अर्थ है पदार्थ (वनस्पति आदि) का निचोड़कर निकाला हुआ द्रव या, जिसे जिह्वेन्द्रियाँ ग्रहण करके स्वाद लेती हैं। इस प्रकार भौतिक के अर्थ में रस का [illegible] और आस्वाद दोनों अर्थों में होता है। [illegible] ([illegible]) [illegible] रस है और उसका आस्वाद [illegible] है। [illegible] आयुर्वेद में रस का अर्थ है [illegible] का अर्थ [illegible] है। यहाँ [illegible]

अभिप्रेत है ही, किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नही वरन् गुण (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है। साहित्य का रस जहाँ आस्वाद प्रधान है, वहाँ आयुर्वेद का रस शक्ति प्रधान है। आयुर्वेद म रस का एक और अथ है देह धातु—अर्थात् शरीर म अतभूत अग्नियों का रस जिस पर शरीर का विकास निभर रहता है। यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है। तीसरा प्रयोग है साहित्य का रस, जहाँ रस का अथ है (अ) काव्य सौन्दय और (आ) काव्यास्वाद—तथा काव्यानन्द भी। मोक्ष रस या आत्म रस ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द का वाचक है, भक्ति रस का अथ भी, सिद्धान्त भेद होने पर भी, मूलत यही है।

रस के उपयुक्त सभी अर्थों म आस्वाद का अतर्भाव तो स्पष्ट है, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा, द्रवत्व और सार अथवा प्राण तत्त्व का भाव भी प्राय किसी न किसी रूप म सवत्र मिलता है। रस शब्द का पहला अथ—अर्थात् पदार्थों का सारभूत द्रव—वेदो म स्पष्ट रूप से मिलता है। वनस्पतियो के रसो का वदिक युग म प्रचुर प्रयोग होता था। मानव सभ्यता के उस प्रभात युग म यह स्वाभाविक ही था, उदाहरणतया—

'महे यत्पित्र ईं रस दिवे करवत्सरत्' (ऋ० १, ७१,५)

(अर्थात जिस समय यजमान महान् और पालक देवता को हृ य रूप म रस देता है)।

इसके अतिरिक्त दूध और जल के अथ मे भी रस का प्रयोग है 'यो नो रस दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वाना यो गवा यस्तनूनाम।'

(ऋ० ७, १०४, १०)

(हे अग्नि! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वो, गायो और सतानो का सार नष्ट करन की इच्छा करता है।)

किन्तु इन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है सोमरस के अथ म रस का प्रयोग। 'ऋग्वेद म सोमरस का अत्यन्त उच्छवसित वाणी म स्तवन किया गया है—

'त गोभिवृषण रस मदाय देववीतये। सुत भराय स सज।'

(ऋ० ९, ६, ६)

(देवो को मत्त करन के लिए उस अभियुक्त और अभीष्ट वपक सोमरस मे गव्य मिलाओ।)

'सोमो अर्षति धर्णसिदधान इन्द्रिय रसम। सुवीरो अभिशस्तिपा।'

(ऋ० ९, २३, ५)

(ससार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय-पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं।)

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रव रूप वनस्पति सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद विशिष्ट होता था—अतएव 'आस्वाद' रूप में भी रस का अर्थ विकास स्वत ही हो गया, यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है। सोम नामक ओषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अत सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। सोमरस का आस्वाद अपूर्व था, उसमें ऐसे गुण थे जिनसे शरीर और मन में स्फूर्ति, शक्ति तथा मद का संचार होता था और उसके पान से एक विचित्र आह्लाद की प्राप्ति होती थी। अत सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ परिधि में क्रमश शक्ति, मद और अत में आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया। वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणत हो गया और वैदिक युग में ही आत्मानन्द का वाचक बन गया। 'अथर्ववेद' में उपर्युक्त अर्थ विकास के स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं—

> अकामो धीरो अमृत स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोन ।
> तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम् ॥
>
> (अथर्ववेद १०, ८, ४४)

(अकाम, धीर, अमृत स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय में भी न्यून नहीं है, उस धीर अजर सदा-तरुण आत्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।)

इसके उपरान्त उपनिषद् काल का आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद् काल को वेदान्त काल अथवा वैदिक काल का अन्तिम चरण भी कहा जाता है। वेद में जहाँ अन्तर्जगत और बहिर्जगत, आत्म-तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व तथा अनुभूति और तर्क दोनों का महत्त्व है वहाँ उपनिषद् की प्रवृत्ति एकांत अन्तर्मुखी है। अत यह स्वाभाविक ही है कि रस के अर्थ में भी इस युग में आन्तर सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश हो गया। उपनिषद् में रस का प्रयोग द्रव्य के अर्थ में तो इतना नहीं है, हाँ द्रव्य की पोषक शक्ति और आस्वाद—द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के अर्थ में अनेक सन्दर्भों में मिलता है—

> 'ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेत । रेतस पुरुष । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय ।'
>
> (तैत्तिरीय उपनिषद् २, १ क)

(ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष, अर्थात् शरीर उत्पन्न

हुआ। यह शरीर अन्न रसमय है अर्थात् अन्न के रस से बना है)।

यहाँ रस का अर्थ केवल द्रव्य नही है वरन् द्रव्य जन्य देह धातु और शक्ति आदि का है। अर्थात् यहाँ सौहित्य के रस की अपेक्षा आयुर्वेद के रस (देह धातु) की विवक्षा अधिक है। द्रव्य और द्रव्य जन्य ऊर्जा आदि से सूक्ष्मतर प्रयोग है तन्मात्रा के अर्थ में। यह प्रयोग भी वदिक ही है। उपनिषद् में इसका स्पष्ट व्यवहार है—

येन रूप रस गन्ध शब्दान्स्पर्शाश्च मथुनान्

एतेनव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्व तत्। (कठ, २, १, ३)

(रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्श और मैथुन का ज्ञान (या अनुभव), उसी आत्मा के कारण होता है। यदि वह न रहे तो (फिर) क्या कुछ बच रहता है!)

बाह्य दृष्टि से रसनेन्द्रिय के विषय का नाम रस है, और तत्त्व दृष्टि से यह रस तन्मात्रा है। यहीं से यह शब्द गुण, द्रव्य आदि का नाम धारण कर, साख्य, वशेषिक आदि दर्शनो म गया, जहा इसका सूक्ष्म, गहन विशेषण किया गया। आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति म ही तन्मात्राओ की स्थिति रहती है, शात आत्मा इन सबसे मुक्त हो जाता है—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत्।

(कठ १, ३, १५)।

किन्तु भौतिक अर्थ में हा वह परम तत्त्व अरस है पारमार्थिक अर्थ म वह सवरस है—'मनोमय प्राणशरीरो भारूप सत्यसकल्प आकाशात्मा सवकर्मा सवकाम सवगन्ध सवरस । (छान्दोग्य ३, १४, २)

(वह ब्रह्मयोति मनोमय है, प्राणशरीर है प्रकाशरूप है सत्यसकल्प है, आकाश उसका आत्मा है। वह सव कर्म-समथ है, पूर्णकाम है, सवगन्ध और सवरस है)।

रस के अर्थ विकास के प्रसग म उपयुक्त दोना (अथवा इस प्रकार के अन्य भी उद्धरणो का विशिष्ट महत्त्व है यहाँ रस के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की सीमाएँ परस्पर मिल जाती हैं, अथवा यह कहा जा सकता है कि रस भौतिक अर्थ की सीमा पार कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा म प्रवेश करता है। वह परम तत्त्व अरस भी है और सवरस भी है—'अरस' म रस का भौतिक अर्थ अभीष्ट है और 'सवरस' म आध्यात्मिक, क्योंकि भौतिक अर्थ म ही वह रस से विहीन और आध्यात्मिक अर्थ म ही रसमय हो सकता है। लक्षणा की शक्ति से इस प्रकार का अर्थान्तर-सक्रमण सहज ही सिद्ध हो जाता है। रस का

यह आध्यात्मिक अर्थ उपनिषद् के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाता है 'रसो वै स । रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति ।' (तैत्तिरीय उपनिषद् २, ७) (वह रस रूप है, इसीलिए रस को पाकर, जहाँ कहीं रस मिलता है उसे प्राप्त कर, मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है।)

रस शब्द के अर्थ विकास का क्रम यहाँ आकर एक मंजिल पूरी कर लेता है। उपयुक्त उद्धरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना नहीं हुई, एक ही अर्थ क्रमश सूक्ष्मतर होता चला गया है। रस का मूल अर्थ था अन्न का रस—वनस्पतियों का रस, अर्थात् 'द्रव्य' रूप रस। 'द्रव्य' से फिर वह द्रव्य के 'आस्वाद' का वाचक बना, और फिर विशिष्ट आस्वादयुक्त सोम रस का। सोम रस में आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुणों का भी वैशिष्ट्य था—ऊर्जा, स्फूर्ति मस्ती आदि। अत रस की परिधि में विकास क्रम से आस्वाद के अतिरिक्त ऊर्जा और तन्मयता आदि गुणों का भी समावेश हो गया। सामान्य अन्न रस जहाँ आस्वाद विशिष्ट ही होते थे, वहाँ सोमरस में आस्वाद के साथ एक विशेष प्रकार की तन्मयता और आह्लाद भी था—अर्थात् सोमरस के आस्वाद में प्रकारान्तर से मानसिक तत्त्व का भी विशेष रूप में समावेश हो गया था। विचार के क्षेत्र में आस्वाद ही रस तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मरस या ब्रह्मरस के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रस का अर्थ अन्नरस या पदार्थरस से ब्रह्मरस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है।

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयो ।
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥ (इति विश्व)

रस के उपयुक्त अर्थों में से 'शृंगारादौ' अर्थात् 'काव्य रस' को छोड़ प्राय अन्य सभी प्रमुख अर्थों की उद्भावना इस युग में हो चुकी थी ('प्राय' में पारद आदि परवर्ती अर्थ विवृत्तियों का अन्तर्भाव हो सकता है—वैसे 'पारद' के रूप में भी रस का प्रयोग 'देहधातु' आदि का ही अर्थ विकास है)। काव्यरस के शास्त्रीय अर्थ में रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता। डा० राघवन् का यही मत है (देखिए—दी थ्योरीज ऑफ रस एंड ध्वनि, सम एस्पेक्ट्स आफ स० अल०, पृ० ५) और हम भी छानबीन के बाद अन्तत इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। परन्तु 'ऋग्वेद' की ही अनेक ऋचाओं से यह संकेत मिलता है कि अलक्ष्य रूप से लगभग ऋषियों की चिरवन्दिता शक्ति 'वाक्' के लिए भी रस का अर्थ प्रसार करने लगी थी वाणी के लिए 'पीना' क्रिया और 'स्वादु', 'मधु' आदि विशेषण का प्रयोग इसका असंदिग्ध प्रमाण है।

स्वय डा० शकरन् द्वारा उद्धृत 'ऋग्वेद' के कतिपय वाक्य हमारे मतव्य को पुष्ट करते हैं—

पिबत्वस्य गिवण (ऋ० ८, १, २६)

(हे गीत रसिक देव ! तू इस (गीत के रस) का पान कर)

'वच स्वादो स्वादीयो रुद्राय वधनम् ,' (ऋ० १, ११४, ६)

(रुद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन (गीत) ।)

'मध्व ऊषु मधुयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी' (ऋ० ८, ७३, ८)

(मधु प्रमी रुद्रगण ! मधुवर्षिणी वह (वाक) तुम्हारे लिए प्रस्तुत है)

'वाचो मधु पृथिवि ! देहि मह्यम् ।' (ऋ० १२, १, १६)

(हे पृथिवी ! मुझे वाणी का मधु प्रदान कर ।)

'वाचा वदामि मधुमद् भूयास मधुसदृश' (पूर्वार्द्ध —ऋ० १०, २४, ६ ।

(यहा वाणी के लिए न केवल मधुमती वरन् 'मधु के समान दीखन वाली' विशेषणो का प्रयोग किया गया है) ।

वाणी के चमत्कार से वदिक ऋषि पूणत परिचित था—उसकी विभूतियो का उसने अनेक स्थलो पर भाव विभोर होकर उद्गीथ किया है । ऋग्वेद के उपयु क्त उद्धरणों म प्रयुक्त 'पीना क्रिया और स्वादु तथा मधुर विशेषणो से यह स्पष्ट है कि इस चमत्कार की 'मधुर पेय रस' के रूप म भी वदिक ऋषि कल्पना करते थे और सोमरस के प्रति अबाध आकषण होने के नाते यह बिम्ब कदाचित् उन्ह प्रिय भी था । मेरी अपनी धारणा है कि वाणी के चमत्कार के लिए पहले 'आस्वाद शब्द' और फिर आस्वाद्य 'रस शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के बीज कदाचित् यही मिल जाते हैं—ऋषि वाणी का पान करते थ और वे वाणी की मधुर एव स्वादु रूप म भी कल्पना करते थे अर्थात् वाणी उनके लिए मधुर पेय अथवा 'रस रूप म काम्य थी ।

डा० शकरन् के ही ग्र थ म उद्ध त 'ऋग्वेद' का वाक्य हमारे अनुमान का पुष्टि कर देता है

य पावमानीरध्येत्यृषिभि सभत रसम् ।
सत्र स पूतमश्नाति स्वदित मातरिश्वना ॥
तस्य सरस्वती दुहे क्षीर। (ऋ० ६, ६७, ३१ ३२)

(जो पवमान ऋचाओं क रूप म ऋषियो द्वारा सम्भृत रस का अध्ययन करता है वह पवित्र और स्वादिष्ट अन्न का आनन्द लता है उसके लिए सर स्वती क्षीर आदि का दोहन करती है) ।

यहाँ रस का प्रयोग निश्चय ही ऋचाओं के अर्थात् वाणी क रस के लिए

किया गया है। इस प्रकार वदिक युग म ही रस शब्द का प्रयोग वाणी के शब्दाथ के लिए होने लगा था। किन्तु यह भी व्यावहारिक प्रयोग मात्र था, शास्त्रीय नहा।

इसके बाद रामायण-महाभारत काल आता है। यो तो 'वाल्मकि रामायण' के प्रचलित सस्करणो में बालकाण्ड के चतुथ सग म नवरस का अत्यत स्पष्ट उल्लेख है,

पाठ्ये गेये च मधुर प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभि सप्तभिबद्धम् तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥८॥
रस शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानक ।
वीरादिभिश्च सयुक्त काव्यमेतदगायताम् ॥९॥

परन्तु बालकाण्ड का यह अश निश्चय ही प्रक्षिप्त है, किसी भी प्रामाणिक सस्करण म ये श्लोक नहीं मिलते। ब्लूमफील्ड और मोनियर विलियम्स के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'रामायण' और 'महाभारत' म रस शब्द के अथ म कोई उल्लखनीय परिवतन नहीं हुआ। 'रामायण' मे रस का प्रयोग जीवन रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों म ही हुआ है। 'महाभारत' में भी वह जल, सुरा, पेय, गध आदि का ही पर्याय है। केवल दो एक प्रयोग थोडे नवीन हैं, जस, काम और स्नह के अथ मे। महाभारत-काल के पश्चात् (भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना तक) सूत्रकाल आता है। यह मूल दशन सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एव जन दशनो क प्रथम आविर्भाव का युग है। इसी युग म वयाकरण पाणिनि और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए, कौटिल्य का 'अथशास्त्र' तथा वात्सायन का 'कामसूत्र' लिखा गया। इनम से अधिकाश ग्रथों म रस शब्द का विशेष अथ विकास नहीं हुआ। दशन सूत्रो में तन्मात्रा के अथ में और अथशास्त्र आदि मे द्रव्यादि के रूप म ही उसका प्रयोग होता रहा।

शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव

हमारे अनुसधान में सहायक एक ग्रथ है, 'कामसूत्र'। वात्स्यायन के नाम से प्रचलित 'कामसूत्र' का जो प्रसिद्ध सस्करण 'जयमगला' टीका के साथ इस समय मिलता है उसम 'रस' शब्द का प्रयोग रति, काम-शक्ति आदि के अथ म प्राय हुआ है—

'रसो रति प्रीतिर्भावो रागो वेग समाप्तिरिति रतिपर्याय ।'

(कामसूत्र २, १, ६५)

'शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नरा ।' (का० २, २, ३२)

एक स्थान पर शास्त्रीय ग्रंथ में भी रस का स्पष्ट प्रयोग है—

'तदिष्टनायलीलानुवर्तनम् ।' (६, २, ३५)

इस पर 'जयमंगला' टीका है 'नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसो भावः स्थायिसंचारिसात्त्विकेषु, लीलाचेष्टितानि तथामनुवर्तनम् ।' (अर्थात् यहाँ रस और भाव से अभिप्राय शृंगारादि रस और स्थायी-संचारी आदि भावों का है।)

उपर्युक्त सूत्र विशेष की रचना कितनी प्राचीन है और यह वात्स्यायन-कृत मूल सूत्रों में से है या नहीं, यह कहना कठिन है। किन्तु वात्स्यायन के ही युग में, या उसके आसपास 'रस' शब्द के शास्त्रीय ग्रंथ का आविर्भाव हो गया होगा, ऐसा अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं। अधिकांश विद्वानों का आज यही मत है कि वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना कदाचित् ईसा पूर्व चौथी शती के लगभग हुई थी। यह युग सूत्रकाल कहलाता है और इसका विस्तार ५-६ शती ई०-पू० से ५-६ शती ई० तक माना जाता है। इस कालावधि में ही सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। कामसूत्र की रचना इसके पूर्वार्द्ध में और 'भरत-सूत्र' की कदाचित् उत्तरार्ध में हुई। एक तो भरत सूत्रों में ही प्रतिपादित रस सिद्धान्त बहुत सांगोपांग और परिपूर्ण है, दूसरे स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख तथा अनुवंश श्लोकों में उनके मन्तव्यों का प्रयोग इतने प्रचुर रूप में किया है कि रस की शास्त्रीय परम्परा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले ले जाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार 'रस' शब्द के शास्त्रीय ग्रंथ के आविर्भाव का समय 'कामसूत्र' की रचना के आसपास ही पहुँच जाता है। इन दो शताब्दियों में शास्त्रीय ग्रंथ का इतना विकास हो चुका था कि भरत को या भरत नाम से रचना करने वाले सूत्रकार को, उसका पूर्ण विस्तार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के फलस्वरूप हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) 'रस' का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियों के द्रव के लिए होता था, जिनके अपने-अपने आस्वाद और गुण थे।

(२) 'द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्य वाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग' के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा 'आस्वाद' और ऊर्जा आदि के अर्थ में उसका विकास हो गया।

(३) सोम रस के वर्धमान प्रचार ने 'रस' शब्द के अर्थ में आनन्द, मस्ती और तन्मयता—चमत्कार आदि का समावेश कर दिया। प्रत्येक 'रस' या उसका 'आस्वाद' आनन्दप्रद नहीं होता किन्तु सोमरस के प्रभाव से 'रस' आनन्द और तन्मयता—चमत्कार आदि का वाचक बन गया।

(४) लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार (ऋचाओं के रस आदि) के लिए होने लगा, और दूसरी ओर—

(५) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा।

(६) 'वाणी का रस' 'काव्य रस' का ही समानार्थक है। यों तो वेद में कवि और काव्य शब्दों का भी प्रयोग है, पर वह वर्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोडा दूर है, काव्य की अपेक्षा वाक् वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है। अत वाक् रस को काव्य रस का वाचक मानना सर्वथा युक्तिसंगत है।

(७) किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यावहारिक ही है रस का पारिभाषिक या शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं है।

(८) अत रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण महाभारत काल के पश्चात् के नाट्य सूत्रों से बहुत पहले—'कामसूत्र' के प्रभाव के फलस्वरूप, अनुमानत चौथी पाँचवी शताब्दी ईसा-पूर्व से लेकर दूसरी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक हुआ होगा।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया बँगला और असमिया, मध्य पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु कन्नड़ तथा मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तूल आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का सचयन किया जाये तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भाण्डार—हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं! किन्तु उनके अपने अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है! इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन जीवन परस्पर ओतप्रोत है किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रान्ति सम्भव है! दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में दावा हो सकता है! यही बात बंगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बँगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपना स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलुगु के द्वयर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के सन्देश काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बँगला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की गजल और हिन्दी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म काल प्रायः समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०), और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है रामचरितम् जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रन्थ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बँगला के चर्या गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी, असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लादचरित' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी 'तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है।' इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं...

जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्राय समान ही हैं। प्राय सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्य काल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात् १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास क्रम लगभग एक सा ही है, सभी प्राय समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है, और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल शासन में तो लगभग डेढ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा। मुगलों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुगल शासन के पहले भी राज्य विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन प्रणाली प्राय एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाएं और शैव शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-सम्प्रदाय उठ खडा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्राय सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति

एव सिद्धा त प्रतिपादन दोना के लिए कवि कम म प्रवृत्त होने थे। भारतीय भापाग्रा के विकास के प्रथम चरण म इन सम्प्रदायो का प्रभाव प्राय विद्यमान था। इनके वाद इनके उत्तराधिकारी सन्त-सम्प्रदायो और नवागत मुसलमानो के सूफी मत का प्रसार देश क भिन्न भिन्न भागो मे होने लगा। स त-सम्प्रदाय वेदा त दशन स प्रभावित थे और निगु ण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी घम म भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफी स ता का यद्यपि उत्तर पश्चिम म अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा राज्या म भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहा भी अनेक प्रसिद्ध सूफी स त हुए। इनके पश्चात् वष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ जो समस्त देश म बडे वेग से व्या त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियो का देश भर मे प्रसार हुआ और समस्त भारतवप सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुञ्जरित हो उठा। उधर मुस्लिम सस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरतर बढ रहा था। ईरानी सस्कृति के अनेक आकपक तत्त्व—जसे वभव विलास, अलकरण सज्जा आदि भारतीय जीवन म बडे वेग से घुल मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर सस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह सस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बठी और जीवन के उत्कप एव आन दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसम शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारिया का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा सस्कार लाये और जिनके पीछे पीछे मसीही प्रचारका के दल भारत म प्रवेश करने लगे। उन्नीसवी शती मे अँग्रेजो का प्रभुत्व देश म स्थापित हो गया और शासक वग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, सस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप म अपने धम का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य क इस सम्पक और सघप से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत क आधुनिक साहित्य का विकास क्रम भी कितना समान है! विदेशी धम प्रचारको और शासका के प्रयत्ना क फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा सस्कृति के साथ सम्पक एव सघप और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य म राष्ट्रीय-सास्कृतिक चेतना का उत्कप, साहित्य म नीतिवाद एव सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दय दृष्टि का उन्मेप, चौथे दशक म साम्यवादी विचारधारा के प्रचार स द्वद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक

कुण्ठाओं और स्वप्नों को शब्द रूप देने के नये प्रयोग और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूप रेखा है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिये। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रंथ—नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार विभूति का उपभोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है।—इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है, किन्तु काव्यशैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य शैलियाँ—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक कथा आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा की भी अनेक शैलियाँ जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा शैली, रास, पद शैली आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छंदों के अतिरिक्त अनेक देशी छंद—दोहा, चौपाई आदि—भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छंद हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य रूपों और छंदों का—जैसे प्रगीत काव्य और उसके अनेक भेदों, सम्बोध गीत, शोक-गीत चतुर्दशपदी का और मुक्त छंद, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और

अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएँ अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द निर्माण के लिए निरंतर संस्कृत के भाण्डार का उपयोग करती रही हैं और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंग्रेजी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंग्रेजी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है। पिछले ५० वर्ष से भारत की सभी भाषाएँ उसकी नवीन प्रयोग भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार-वक्रताओं को सचेष्ट ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंग्रेजी का प्रभाव और भी अधिक है, हमारी वाक्य रचना प्रायः अंग्रेजी पर ही आश्रित है। अन इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है जो समान विषय वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है। देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से, सत्य शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए, मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओं में भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टत अनेक छिद्र रह जाएँगे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ सांयोगिक सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में वैसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी में जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बँगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-काव्य में घटना

वाला आकस्मिक या ऐकांतिक घटना नहीं थी, गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधवदेव ने अपने वर्गीता में प्रत्यक्ष मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यानों का अध्ययन किये बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफी काव्य के मर्म को समझने में फारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी और उर्दू—में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित मानस में राम के स्वरूप की परिकल्पना का हृदयंगत किये बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अधूरा रहेगा। इसी प्रकार हिंदी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अप्रत्यक्ष रूप से व्याप्त था। वहाँ के कृष्ण-काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार साहित्यिक शोध प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएँगी अगणित जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जायेगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किंतु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी और संस्कृत तक ही सीमित है प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाये। पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है। उनमें तो रूपान्तर, यहाँ तक कि लिप्यंतर भी, आवश्यक नहीं है। जैसे बँगला, असमिया और उड़िया में, या हिंदी और मराठी में या तेलुगु और कन्नड में कुछ शब्दों अथवा शब्द रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी उर्दू और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान,

अन साहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश मे इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय सस्थाएँ इस दिशा म अग्रसर हैं। कि तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरम्भिक अवस्था म ही है। इसके लिए जसे व्यापक एव सगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वसा आयोजन अभी हो नही रहा। फिर भी भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने आप मे शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सास्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सास्कृतिक एकता का सबसे दृढ एव स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियो की आशकाओ को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निर तर अपनी अखण्डता म उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समजित इकाई के रूप म 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नही हो सकता।

रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योगदान

१ काव्य शास्त्र

रीति आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है सिद्धांत प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्य शास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियाँ हैं एक के अंतर्गत नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान आता है। हिन्दी के *रीति आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके।* किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन, जो काव्य चिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में सम्भव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया है परन्तु उन तथाकथित उद्भावनाओं का भी आधार स्रोत किसी न किसी संस्कृत ग्रंथ में मिल जाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता, अर्थात् वहाँ नवीनता प्रदर्शन केवल नवीनता या विस्तार मोह के कारण किया गया है काव्य के मर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएँ अवांछित भी हो गई हैं। जैसे स्वर, वाक आदि के अंगों से युक्त नायिका भेदों का विस्तार अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिन्दी के रीतिकवियों ने आरम्भ से ही गलत रास्ता अपनाया उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परन्तु संस्कृत के काव्य शास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए, संस्कृत काव्य शास्त्र में कवि कर्म के बाह्य रूप का जितना

पूर्ण विवेचन है उतना उसके आंतरिक रूप का नही है, अर्थात् कवि मानस की सृजन प्रक्रिया का विवेचन यहाँ व्यवस्थित रूप से नही मिलता। हिंदी का रीति आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था। यहाँ मौलिक विवेचन के लिए बडा अवकाश था, परन्तु परम्परा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका। सामान्यत उस युग मे इतना साहस कोई कर भी नही सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का, रीतिकाल तक संस्कृत काव्य-शास्त्र का भेद विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों म एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गई थी। उदाहरण के लिए, ध्वनि का भेद विस्तार हजारो तक, नायिका भेद की संख्या भी सकडो तक पहुँच चुकी थी। अलकार वर्णन-शैली को छोड वर्ण्य विषय के क्षेत्र म प्रवेश करने लग गए थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक दूसरे की सीमा का उल्लघन कर रहे थे। परिणामत भारतीय काव्य शास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय म स्थिर हो चुकी थी, अस्त व्यस्त सी हो गई थी। पडितराज जगन्नाथ जसे मेधावी आचार्य ने उस फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अन शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पडती थी। हिन्दी का आचार्य भी उसी प्रवाह म बह गया, अतने समसामयिक पडितराज का माग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशवमिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे कवि आचार्य पर एक और बडा दायित्व था और वह था हिंदी की विशाल वाङ्‌मय राशि का अनुगम विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की कल्पना करना। किन्तु उसने हिंदी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिए उसने संस्कृत काव्य शास्त्र का अवलम्ब लिया और उदाहरणो का स्वयं ही नूतन निर्माण किया, इस प्रकार हिंदी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जसे कोई अस्तित्व ही नही रहा। वास्तव मे इस प्रकार अपने पूववर्ती एव समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणो का अनुवाद और नूतन उदाहरणो की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य-कर्म का निषेध करना था। आलोचना शास्त्र मूलत एक सापेक्षिक शास्त्र है, उसका आलोच्य साहित्य क साथ अत्यन्त अन्तरग सम्बन्ध है। अत न तो केवल हजारो वर्ष पुराने लक्षणो और उदाहरणो का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणो की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि सम्भव थी। संस्कृत के आचार्यों न जहा प्राय आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक रखा था वहाँ हिन्दी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया। इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई किन्तु काव्य-

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिन्दी काव्य को शास्त्र चिंतन की प्रौढ़ि प्राप्त हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए। भारतीय भाषाओं में हिन्दी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी आलोचना पर इसका सद्‌प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहाँ संस्कृत आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया है, वहाँ हिन्दी और मराठी में यह अंतःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के उस अन्धकार-युग में काव्य के बुद्धि पक्ष को जाने अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्राय: असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत अंग रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से सम्प्रेरित शृंगार भाव में जीवन के समस्त सद्‌भावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व आनन्द की पुनःप्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिकाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियों ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में रसकुटिल 'अधम व्यंजना' पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रससिद्धान्त के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। संयोग' 'शासन का अपरिपक्व ज्ञान' 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय्य नहीं है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

२ काव्य

भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भाँति हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यन्त अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इस

पर आलोचकों की वक्र दृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार विरोधी कहकर नतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्य-बोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाज-विरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ विषय-वस्तु एव अभिव्यजना प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया।

इस प्रकार की आलोचनाएँ निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं—इनम बाह्य मूल्यो का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलाचक को आलोच्य काव्य म से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति का अवलम्बन करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होन की आशका नही रह जाएगी।

व्यापक स्तर पर विचार करन स काव्य की दा प्रतिनिधि परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं जा काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं एक 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा है'। इनम से पहली शुक्लजी की शब्दावली म 'आनन्द की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्व देती है। केवल भारतीय वाङमय म ही नही, विश्व भर के वाङमय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होत हैं। इसम सन्देह नहीं कि इस भेद के मूल म आतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोना और उनका आख्यान करनेवाली उपयुक्त दोनो परिभाषाएँ दो विभिन्न दृष्टिकोणा की द्योतक तो हैं ही। मेरी अपनी धारणा है कि किसी भी काव्य का समीक्षा करते समय इस दृष्टि भेद को सामने रख लेना आवश्यक है—एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी न किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशका रहती है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य दृष्टि मे, पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शले की काव्य दृष्टि में उपयुक्त भेद स्पष्ट है फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जसे प्रौढ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है—बिहारी की आलोचना करते हुए पडित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चाँद को भी गहन लगने' की आशका होने लगी। यद्यपि मैं स्वय कवित्व और रस की मौलिक अखण्डता का समर्थक हूँ—किन्तु यह अखण्डता तो अन्तिम स्थिति मे ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपयुक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्य रसात्मक काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सदेह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है—जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का सचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसमें सदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अत उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। यहाँ मैं इस प्रश्न को छेड़ना नहीं चाहता कि रस की कोटियाँ होती हैं या नहीं—मेरा मन्तव्य केवल यही है कि काव्य-वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है और इस दृष्टि से रीति-काव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया इसमें सदेह नहीं है और इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। वास्तव में मैं इस प्रसग में एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हूँ जो अनेक नैतिक-सामाजिक काव्य सिद्धान्तों के घटाटोप में आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अतक्य उद्देश्य मनोरजन भी है यह मनोरजन मानव जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्याकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नहीं है क्योंकि कवि शिक्षा से सयुक्त यह मनोरजन तत्कालीन सहृदय समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्व असंदिग्ध है। वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीति कवियों ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो राजाओं और संतों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीति-कवियों की उपलब्धि कम नहीं है। व्रजभाषा के काव्यरूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कांति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतार कर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया। सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग बिरंगे शब्द माणिक मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छंदों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीति-कवियों का छंद विधान एक बँधी लीक पर ही चलता है उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परन्तु यह दृष्टि दोष है सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय परिवर्तन कर रीति कवियों ने अपनी कोमल संगीत रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व युग के तुलसी और गंग जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द जैसे प्रवीण कलाकारों के छंद विधान के साथ तुलना करने पर अंतर स्वतः स्पष्ट हो जाता है—ये कवि अपने सम्पूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीति कवियों के छंद-संगीत की सृष्टि करने में नितांत असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज सज्जा और अलकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है—वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा कि पंत में मिलता है, परन्तु विलास युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आप में विशेष मूल्यवान् है—और इसी रूप में इसके महत्व का आकलन होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाव्य में आपको सूर, मीरा और घनानन्द की जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध ही यहाँ उपलब्ध होगा, परन्तु मुक्तक परम्परा की गोष्ठीमण्डन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य

में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही सम्भव हो सका।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास म रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एव प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र म कविता के कलारूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परम्परा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला प्रसाधनों के सम्यक परिष्कार प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिन्दी काव्य की समृद्धि म महत्वपूर्ण योगदान किया है। एकान्त वशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङमय मे ही नही सम्पूर्ण विश्व के वाङमय मे आलोचना और सर्जना के सयोग से निर्मित यह काव्य विधा अपना उदाहरण आप ही है किसी भी भाषा म इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नही रचा गया।

रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव

रवीन्द्र-जयन्ती का आयोजन जिस उल्लास और उत्साह के साथ, जिस व्यापक रूप में पूरे राजकीय वभव के साथ हो रहा है वह हमारे देश के साहित्यिक इतिहास मे अभूतपूर्व घटना है। एक ओर हमारे लिए जहाँ यह गौरव का विषय है कि एक कवि-कलाकार को इस प्रकार का राजकीय एव देशव्यापी सम्मान दिया जा रहा है दूसरी ओर हमे इस प्रकार के राजनीतिक आयोजनों के असाहित्यिक प्रभावों के प्रति भी सतक होने की आवश्यकता है। इस प्रकार के राजनीतिक कोलाहल से कई अनिष्ट हो सकते हैं एक तो यह कि स्वय रवीन्द्र-साहित्य के भव्यतर रूप की उपेक्षा हो जाये और 'वे विश्वमानव थे', 'अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष थे', 'महान् शिक्षाविद् थे', 'सिद्ध दार्शनिक थे', 'अद्वितीय जन-सेवक थे'—ऐसे या इस प्रकार के अन्य नारों के बीच उनका कलाकार ही खो जाये, और दूसरा यह कि राजनीतिक रग म रगे हुए इस प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप रवीन्द्र-साहित्य का इतना अधिक अतिमूल्यन किया जाये कि देश की अन्य साहित्यिक विभूतियाँ रवीन्द्रनाथ की उपजीवी या उपग्रह बनकर रह जायें। एक वाक्य में इस प्रकार के अतिरजित प्रयत्नों से साहित्य के क्षेत्र मे भी राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश होने की आशका उत्पन्न हो जाती है। अत भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का मूल्यांकन, राजनीतिक प्रचार भावना से मुक्त होकर, उचित साहित्यिक परिप्रेक्ष्य म करना चाहिए और यह समझकर आगे बढना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ न बीसवीं शती के प्रथम चरण मे जिस आलोक का वितरण किया वह उन्हें प्राचीन भारत की महान् परम्परा से उत्तराधिकार म प्राप्त हुआ—वह आलोक भारत के अन्य साहित्यकारों को भी प्राप्त था जिन्हें स्वदेश विदेश की काव्य-परम्परा के साथ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का अतिरिक्त वरदान भी मिला।

अंग्रेजी आलोचना म कुछ कवियों के लिए एक प्रशस्ति का प्रयोग किया जाता है—पोइट्स पोइट कवियों का कवि। इसका सस्कृत पर्याय बनता है

'कवीना कवि' किन्तु सस्कृत आलोचना म इस [अथ म 'कविकुलगुरु' का प्रयोग हुआ है, 'कवीना कवि' का नहीं। 'कविकुलगुरु' या 'कवियो के कवि' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो वह कवि जो परवर्ती कवि-परम्परा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य-वस्तु के नव निर्माण की प्रेरणा देता है, दूसरा वह कवि जो काव्य-सामग्री—विशेषत काव्य बिम्ब प्रदान करता है अथवा काव्य बिम्बो के नव निर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली कोटि के कवि हैं, कालिदास दूसरी के। किन्तु जहाँ तक मुझे स्मरण है सस्कृत काव्य परम्परा ने कालिदास को ही कविकुलगुरु की उपाधि से भूषित किया है—भासो हास कविकुलगुरु कालिदासो विलास—स्वय कालिदास को काव्य वस्तु का दान करनेवाले वाल्मीकि और व्यास का अक्षय यशोगान करने पर भी उन्हें 'कवीना कवि' का पर्याय-वाचक 'कविकुलगुरु' विशेषण नहीं दिया। इसका अभिप्राय यह है कि 'कविकुलगुरु' या 'कवीना कवि' का प्रयोग प्राय दूसरे अर्थ मे अर्थात् काव्य सामग्री या काव्य बिम्ब प्रदान करनेवाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वभव और कल्पना विलास से मण्डित हो—जिसके प्रचुर भण्डार से अन्य कवि अपने काव्य कोष को परिपूर्ण करते हों। इस अर्थ मे भारतीय साहित्य मे कालिदास के उपरात 'कवीना कवि' विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं—यद्यपि देश की अनेक भाषाओं मे ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं जिन्हें रवीन्द्रनाथ के समप्रतिम मानने मे कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ मूलत कवि थे। जीवन के जिस सत्य का उनके कवि ने कल्पना और अनुभूति के द्वारा साक्षात्कार किया उसी को वे अनेक माध्यम प्रकारो से व्यक्त करते रहे। विश्व के विकीर्ण वभव म आत्मा के स्पदन को भाव प्रेरित कल्पना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति से प्राप्त कर उन्होने अनेकता म एकता के जिस सत्य को स्वानुभूत किया वही दर्शन के क्षेत्र म सर्वात्मवाद सस्कृति के धरातल पर विश्व मानवतावाद और राजनीति के क्षेत्र म अन्तर्राष्ट्रवाद का रूप धारण कर उनके सम्पूर्ण वाङ्मय म पुष्पित-पल्लवित होता रहा। इस प्रकार की अनुभूति स्पष्टत एक प्रकार की रहस्यानुभूति है जो एक ओर विचार और विवेक की बौद्धिक सीमाओ को और दूसरी ओर ऐन्द्रिय जगत के भौतिक बन्धनो को पारकर चेतना के अतल गह्वर म जन्म लेती है—आप उसे आत्मा या चिति कहें या केवल चेतना मात्र। रवीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल धरातल था। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलत रहस्यानुभूति है और उनकी काव्य शैली का निर्माण स्वभावत रम्याद्भुत तत्त्वो से हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव

का आरम्भ गीताजलि की पुरस्कृति के पश्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य प्रतिभा की यह सावभौम स्वीकृति अपने देश के साहित्यिक इतिहास की अभूतपूव घटना थी जिसका प्रभाव पडना अनिवाय था।

हिन्दी साहित्य म इस समय जागरण सुधार के नतिक आदर्शों से मुखरित द्विवेदी युग चल रहा था जिसकी दृष्टि सवथा वहिमु खी थी और जिसकी अभिव्यक्ति का रूप इतिवृत्तात्मक था। रीतिकाव्य की परिचित रस भूमि को अनैतिक और रोग ग्रस्त मानकर हिन्दी का कवि त्याग चुका था। किन्तु उसके स्थान पर नवीन रस भूमि का अनुसधान वह कर नही पाया था। अन्तमु ख जीवन के दुष्परिणामा से पीडित भारतीय चेतना जीवन और जगत के मगलमय प्रसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए सघप कर रही थी। सामाजिक जीवन के कल्याण की ओर उन्मुख अनेक आन्दोलन साहित्य म भी प्रतिध्वनित हो रहे थे किन्तु ऐसा लगता था जसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकरा कर लौट आते हों। बँगला-साहित्य मे भी बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ की काव्य चेतना ने विद्रोह किया था। हिन्दी कविता म 'गीताजलि' की प्रसिद्धि के आसपास ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया होने लगी थी। प्रसाद की आरभिक रचनाओ म साम यिक काव्यादर्शों से कुठित कवि-चेतना की यह व्यग्रता व्यक्त हो रही थी। भावना और विवेक का यह सघप चेतना के विकास का चिरतन सत्य है, न वह आकस्मिक घटना है और न किसी व्यक्ति-विशेष की सृष्टि। भारतीय चेतना स्थूल और सूक्ष्म, बहिरग और अन्तरग की क्रिया प्रतिक्रिया म से गुजरती हुई ऐसी परिस्थिति म पहुँच गयी थी जहाँ वहिमु ख नतिकता और मगल साधना के विरुद्ध अन्तमु ख भावना तथा रहस्य कल्पना की प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी थी। रवीन्द्रनाथ युगात्मा की इस पुकार के अपने आप म सबसे प्रबल प्रतीक थे और दूसरों के लिए प्रेरणा स्रोत भी बन गये थ। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी कविता मे द्विवेदी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप छायावाद का जन्म होना अवश्यम्भावी था और उसके लिए न केवल भूमि तयार हो गयी थी वरन् अकुर भी फूटने लग गये थे—रवीन्द्रनाथ के बढते हुए प्रकाश ने उनका पोषण किया और छायावाद का विकास बडे वेग से हुआ, इसम सन्देह नही। छायावाद की रोमानी प्रवृत्तिया की समद्धि का श्रेय निश्चय ही रवीन्द्रनाथ को है और पत, निराला, महादवी जस समय कवियो ने प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रेरणा तथा बल प्राप्त किया। पत की आरभिक कविताओ मे रवीन्द्र-काव्य की अनुगूज मिलती है जिसको लेकर निराला ने एक बडे लम्बे लेख म यह सिद्ध करने का निरथक प्रयास किया था कि पत न केवल मूल प्रेरणा के लिए वरन्

'कवीना कवि' किन्तु सस्कृत आलोचना म इस अथ म 'कविकुलगुरु' का प्रयोग हुआ है, 'कवीना कवि' का नही। 'कविकुलगुरु' या 'कवियो के कवि' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो वह कवि जो परवर्ती कवि-परम्परा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य-वस्तु के नव निर्माण की प्रेरणा देता है, दूसरा वह कवि जो काव्य सामग्री—विशेषत काव्य बिम्ब प्रदान करता है अथवा काव्य बिम्बो के नव निर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली कोटि के कवि हैं, कालिदास दूसरी के। किन्तु जहा तक मुझे स्मरण है सस्कृत काव्य-परम्परा ने कालिदास को ही कविकुलगुरु की उपाधि से भूषित किया है—भासो हास कविकुलगुरु कालिदासो विलास — स्वय कालिदास को काव्य वस्तु का दान करनेवाले वाल्मीकि और व्यास का अक्षय यशोगान करने पर भी उन्हें 'कवीनां कवि' का पर्याय-वाचक 'कविकुलगुरु' विशेषण नहीं दिया। इसका अभिप्राय यह है कि 'कविकुलगुरु' या 'कवीना कवि' का प्रयोग प्राय दूसरे अथ मे अर्थात् काव्य-सामग्री या काव्य बिम्ब प्रदान करनेवाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वभव और कल्पना विलास से मण्डित हो—जिसके प्रचुर भण्डार से अन्य कवि अपने काव्य कोष को परिपूर्ण करते हो। इस अथ मे भारतीय साहित्य मे कालिदास के उपरात 'कवीना कवि' विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं—यद्यपि देश की अनेक भाषाओं म ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं जिन्हें रवीन्द्रनाथ के समप्रतिभ मानने में कठिनाई नही होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ मूलत कवि थे। जीवन क जिस सत्य का उनके कवि ने कल्पना और अनुभूति के द्वारा साक्षात्कार किया उसी को व अनेक माध्यम प्रकारों से व्यक्त करते रहे। विश्व के विकीर्ण वभव मे आत्मा के स्पदन को भाव प्रेरित कल्पना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति स प्राप्त कर उन्होने अनकता म एकता के जिस सत्य को स्वानुभूत किया वही दशन के क्षेत्र म सर्वात्मवाद, सस्कृति के धरातल पर विश्व मानवतावाद और राजनीति के क्षेत्र म अन्तर्राष्ट्रवाद का रूप धारण कर उनके सम्पूर्ण वाङमय म पुष्पित-पल्लवित होता रहा। इस प्रकार की अनुभूति स्पष्टत एक प्रकार की रहस्यानुभूति है जो एक ओर विचार और विवेक की बौद्धिक सीमाओ को और दूसरी ओर ऐन्द्रिय जगत के भौतिक बन्धनो को पारकर चेतना के अतल गह्वर म जन्म लती है—आप उसे आत्मा या चिति कहें या केवल चेतना मात्र। रवीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल धरातल था। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलत रहस्यानुभूति है और उनकी काव्य शली का निर्माण स्वभावत रम्याद्भुत तत्त्वो से हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव

का आरम्भ गीताजलि की पुरस्कृति के पश्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य प्रतिभा की वह सार्वभौम स्वीकृति अपने देश के साहित्यिक इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी जिसका प्रभाव पडना अनिवार्य था।

हिन्दी साहित्य मे इस समय जागरण सुधार के नैतिक आदर्शों से मुखरित द्विवेदी-युग चल रहा था जिसकी दृष्टि सर्वथा बहिर्मुखी थी और जिसकी अभिव्यक्ति का रूप इतिवृत्तात्मक था। रीति-काव्य की परिचित रस भूमि को अनैतिक और रोग ग्रस्त मानकर हिन्दी का कवि त्याग चुका था। किन्तु उसके स्थान पर नवीन रस भूमि का अनुसंधान वह कर नही पाया था। अन्तर्मुख जीवन के दुष्परिणामो से पीडित भारतीय चेतना जीवन और जगत के मगलमय प्रसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए सघर्ष कर रही थी। सामाजिक जीवन के कल्याण की ओर उन्मुख अनेक आन्दोलन साहित्य म भी प्रतिध्वनित हो रहे थे किंतु ऐसा लगता था जसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकरा कर लौट आते हों। बँगला साहित्य में भी बहुत कुछ एसी ही परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना ने विद्रोह किया था। हिन्दी कविता मे 'गीताजलि' की प्रसिद्धि के आसपास ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया होन लगी थी। प्रसाद की आरम्भिक रचनाओ म साम यिक काव्यादर्शों से कुठित कवि चेतना की यह व्यग्रता व्यक्त हो रही थी। भावना और विवेक का यह सघर्ष चेतना के विकास का चिरतन सत्य है, न वह आकस्मिक घटना है और न किसी व्यक्ति-विशेष की सृष्टि। भारतीय चेतना स्थूल और सूक्ष्म, बहिरग और अन्तरग की क्रिया प्रतिक्रिया म से गुजरती हुई ऐसी परिस्थिति म पहुँच गयी थी जहाँ बहिर्मुख नतिकता और मगल साधना के विरुद्ध अन्तर्मुख भावना तथा रहस्य कल्पना की प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी थी। रवीन्द्रनाथ युगात्मा की इस प्रकार के अपने आप म सबसे प्रबल प्रतीक थे और दूसरों के लिए प्रेरणा स्रोत भी बन गये थे। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी कविता म द्विवेदी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप छायावाद का जन्म होना अवश्यम्भावी था और उसके लिए न केवल भूमि तयार हो गयी थी वरन् अकुर भी फूटन लग गये थे—रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रकाश ने उनका पोषण किया और छायावाद का विकास बडे वेग से हुआ इसम सन्देह नहीं। छायावाद की रोमानी प्रवृत्तियो की समृद्धि का श्रेय निश्चय ही रवीन्द्रनाथ को है और पत, निराला, महादेवी जसे समथ कवियों ने प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रेरणा तथा बल प्राप्त किया। पत की आरभिक कविताओं म रवीन्द्र-काव्य की अनुगूँज मिलती है जिसको लक्ष्य कर निराला ने एक बडे लम्बे लेख में यह सिद्ध करने का निरथक प्रयास किया था कि पत न केवल मूल प्रेरणा के लिए वरन्

अनेक भाव-छायाओं और बिम्ब योजनाओं के लिए रवीन्द्रनाथ के ऋणी हैं। वास्तव में उस समय छायावाद को रवीन्द्र-काव्य की नकल मानने का कुछ ऐसा प्रवाद चल पड़ा था कि हिन्दी के आलोचक बिना किसी आधार के छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करने का आरोप लगा रहे थे। पंत की अपेक्षा निराला का रवीन्द्र काव्य से अधिक घनिष्ठ और प्रत्यक्ष परिचय था। बँगला एक प्रकार से उनके लिए मातृभाषा थी और रवीन्द्र काव्य की अनेक छवियाँ तथा प्रयोग-वक्रताएँ उनकी कवि चेतना में सहज रूप में रम गयी थी। किन्तु निराला में आरम्भ से ही बाह्य प्रभाव के प्रतिरोध का इतना उत्कट आग्रह था कि उनके काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव ढूँढ निकालना कठिन है। फिर भी, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि निराला की कवि चेतना का आरम्भिक विकास जिस साहित्यिक वातावरण में हुआ उसके निर्माण में रवीन्द्रनाथ का प्रमुख योगदान था। महादेवी ने भी निश्चय ही यह प्रच्छन्न प्रभाव ग्रहण किया, किन्तु उनकी प्रगीत-कला का विकास बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप में ही हुआ। वास्तव में छायावाद पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का उचित मूल्यांकन आरंभ में इसलिए नहीं हो सका कि उस समय छायावाद के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे एक ओर जहाँ रहस्यवाद का ही प्रतिरूप माना वहाँ दूसरी ओर उसे अभिव्यंजना का प्रकार मात्र घोषित किया। शुक्ल जी स्वभाव और सिद्धान्त दोनों से रहस्यवाद के विरुद्ध थे। दर्शन के क्षेत्र में वे अव्यक्त के व्यक्त प्रसार पर मुग्ध थे, भावना के क्षेत्र में लोकमंगलकारी नैतिक अनुभूतियों की ओर कला के क्षेत्र में वे मूर्त सौन्दर्य-बोध को ही प्राथमिक महत्त्व देते थे। छायावाद में एक प्रकार से इन तीनों का ही निषेध था—इसलिए वह आचार्य का अनुग्रहभाजन न बन सका। छायावाद का विरोध करते करते वे उसके प्रच्छन्न स्रोत रवीन्द्र काव्य तक पहुँचे। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी आधुनिक कवि की रहस्यानुभूति। जब मध्य युग के कबीर आदि निर्गुण साधकों में भी उसे यथावत् स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति होती थी तो आधुनिक विज्ञान-युग के कवि की रहस्यानुभूति को स्वीकार करना तो और भी कठिन था। इसलिए हिन्दी के उदीयमान कवियों की तो उन्होंने अनुवर्ती मात्र कहकर उपेक्षा कर ही दी, साथ ही *विश्वविख्यात रवीन्द्रनाथ की रहस्यानुभूति पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा* दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा से हतप्रभ होकर उन्होंने अपनी धारणाओं में संशोधन करना स्वीकार न किया और उन्हें रहस्यवादी की अपेक्षा महान् आलंकारिक मानना ही अधिक उपयुक्त समझा। अर्थात् रवि बाबू की रहस्याभि

व्यक्तियो को उन्होने अनुभूति प्रेरित न मानकर अभिव्यजना की विभूति ही अधिक माना। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने न केवल छायावाद का ही विरोध किया वरन् हिन्दी कविता पर रवीन्द्रनाथ के बढते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया। बाद म चलकर जब छायावाद का स्वरूप स्पष्ट हुआ और यह निश्चय हो गया कि छायावाद हिन्दी काव्य-परम्परा का स्वाभाविक विकास है—तो यह स्वीकार करने मे देर न लगी कि काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की भाँति यद्यपि छायावाद ने भी उधर अंग्रेजी की रोमानी कविता और इधर रवीन्द्रनाथ की कविता से आरभिक प्रेरणाएँ प्राप्त की थी—फिर भी वह उनकी छायामात्र नही है। तथ्य वास्तव म यह है कि पहले रवीन्द्रनाथ ने रोमानी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की और फिर हिन्दी कवियो ने बहुत कुछ प्रत्यक्ष रूप मे, और प्रधान रवीन्द्रनाथ के माध्यम से भी, अपने विकास के पहले चरण म उनका प्रभाव ग्रहण किया। छायावाद का जन्म होने तक रवीन्द्रनाथ विदेशी काव्य के उस प्रभाव को आत्मसात् कर चुके थे। उनकी महान् प्रतिभा शेले और कीट्स की किशोर कल्पनाओं को तब तक विराट भारतीय आधार फलक प्रदान कर चुकी थी और अंग्रेजी की लाक्षणिक भगिमाओ को सस्कृत के ऐश्वय से मडित कर चुकी थी, इसलिए हिन्दी कवियो का काय अपेक्षाकृत सुकर हो गया।

किन्तु यह सब होते हुए भी छायावाद के अग्रणी कवि प्रसाद इन दोनो प्रभावो से मुक्त रहे—न उन्होने अंग्रेजी के रोमानी कविया का ऋण स्वीकार किया और न रवीन्द्रनाथ का ही। रवीन्द्रनाथ ने जहाँ पाश्चात्य रोमानी प्रभाव को कालिदास की रमणीय कल्पनाओं म ढालकर उन्हें भारतीय काव्य चेतना का अग बना लिया था, वहाँ प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत शुद्ध भारतीय ही रहा। अपने युग के रोमानी वातावरण स प्रेरित होकर व पश्चिमी साहित्य की ओर नही गय वरन् भारत के प्राचीन साहित्य म बिखरे हुए रम्याद्भुत तत्त्वो का सधान करने लगे, जिसकी चरम परिणति हम कामायनी म मिलती है। इसलिए प्रसाद की काव्य चेतना रवीन्द्रनाथ की काव्य चतना की अपेक्षा अधिक भारतीय और उसी सीमा तक अधिक मौलिक है। हिन्दी के सम्यक् प्रचार और प्रसार के उपरान्त जब भारतीय भाषाओ मे कामायनी के महत्त्व की उचित प्रतिष्ठा हो सकेगी, उस समय, मुझे विश्वास है कि मेरी स्थापना की सत्यता अनायास की सिद्ध हो जायेगी।

हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं के काव्य पर भी रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। प्राय सभी भाषाओं में गीतांजलि का अनुवाद हुआ, कुछ भाषाओं म

सीधे बँगना से और कुछ म अंग्रेज़ी स । कुछ म केवल गद्यानुवाद ही हुए किन्तु कतिपय भाषाओं म छद का माध्यम भी ग्रहण किया गया जसे मराठी मे, तेलुगु मे, हि दी म । शीघ्र ही भारतीय कवियों ने यह अनुभव किया कि गीता जलि रवी द्रनाथ की सवश्रेष्ठ कृति नही है और उन्होने कवि की अन्य समृद्ध रचनाओं का मूल अथवा अनुवाद में अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय काव्य म एक नवीन रहस्यो मुख सौन्दय दृष्टि का उमेष हुआ । तलुगु मे रायप्रालु सुब्बाराव और अ० रामकृष्ण राव की कविताएँ इस नव प्रभाव से मडित हैं । मलयालम म शकर कुरुप, असन, उल्लूर और कन्नड म कुवेम्पु, वद्रे तथा गोकाक इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं । वेद्र म रवी द्रनाथ का तरल सौ दय-सगीत और कुवेम्पु तथा गोकाक मे बँगला कवि की अतीन्द्रिय रहस्यो मुख सौ दय दृष्टि का उमेष है । मराठी में 'गूढगुजन नाम से जिस नय रहस्य प्रवृत्ति का जम हुआ उसका प्रेरणा स्रोत रवी द्र-काय ही था । केशवसुत, ताम्बे, बी और उधर विदभ कवि अनिल, गुणवत हनुमन्त देशपाडे, वामन नारायण देशपांडे आदि की रमणीय वायवी भाववस्तु तथा रम्याद्भुत बिम्ब योजनाओं मे भी यह प्रभाव लक्षित होता है । गुजराती म इस वग के कवि हैं स्नेहरश्मि, प्रह्लाद परीख आदि । कात ने गीताजलि की निगुण भावना से प्ररित होकर उसका गुजराती म अनुवाद किया । उत्तर पश्चिम की भाषाओं में पजाबी के भाई वीरसिंह मूलत सिक्ख गुरुओं की निगुण भक्ति स प्ररित होने पर भी रवी द्रनाथ के सौ दय-दशन से प्रभावित हुए । उदू कविता में यद्यपि सूफी काय-परम्परा के प्रभाव के कारण बँगला कवि की मधुर रहस्य भावना एकदम नयी नही थी फिर भी बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक म रवी द्रनाथ का प्रभाव पडे बिना नही रहा और नियाज फ्तेहपुरी ने सन् १६१४ मे गीता जलि का अत्यत रसमय गद्य म अनुवाद प्रस्तुत किया । उदू साहित्य म 'अदबे लतीफ नाम से एक नई विधा का जम हुआ जो हिन्दी गद्य काय का पर्याय था । इसको प्रेरणा मिली गीताजलि के अग्रेज़ी गद्यानुवाद से । सन् १६ ५ म शातिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने कलामे टगोर' शीषक से मूल बँगला से अनूदित कवि की १२० कविताओं का सकलन प्रस्तुत किया । अप्रत्यक्ष प्रभाव या प्ररणा की दृष्टि से भी उर्दू काय पर रवी द्रनाथ का प्रभाव पडा किन्तु वह प्राय सामा य कवियो तक ही सीमित रहा । पूर्वी भाषाओं म उडिया के 'सवुजा वग' के कवि और असमिया के हितेश्वर बरबरुआ, यती द्रनाथ दुवरा तथा देवकात बरुआ जसे कवि-कलाकारो म रवी द्र का प्रभाव स्पष्टत उपलब्ध होता है । कहने का तात्पय यह है कि बीसवी शताब्दी के दूसरे, तीसरे और

३—सामान्य रूप में बीसवीं शताब्दी का प्रतिनिधि जीवन-दर्शन है मानवतावाद, जिसके भारत में दो प्रमुख व्याख्याकार हुए : एक गांधी और दूसरे रवीन्द्र। गांधी ने मानव-सत्य का जहाँ अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहाँ रवीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा। दोनों के मानवतावाद की परिणति भौतिक सीमाओं को पार कर आत्मवाद में होती है। किन्तु फिर भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। गांधी-दर्शन निरानन्द है जबकि रवीन्द्र-दर्शन आनन्द से ओतप्रोत है। युग धर्म के इन दोनों द्रष्टाओं ने स्वभावतः ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है। गांधी की दृष्टि आदर्शवादी एवं धार्मिक थी अतः साहित्य के क्षेत्र में उसके प्रभाव से लोकमंगल की नये एवं प्रबल रूप में प्रतिष्ठा हुई और लोककल्याण को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य माननेवाले प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा साहित्यकार अपनी कला में उसकी अभिव्यक्ति करने लगे। उधर कल्पनाशील तथा भावुक कवि-लेखकों की गांधी के एकान्त उपयोगितावादी निरानन्द कला-दर्शन से तृप्ति नहीं हुई, इनके आदर्श बने रवीन्द्रनाथ। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने एक ओर स्वच्छंदतावादी रहस्यवादी काव्य प्रवृत्ति को प्रभावित किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा को भी।

४—गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा। उनकी अपेक्षा बँगला के ही शरत् ने भारतीय उपन्यास को और द्विजेन्द्रलाल राय ने भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया। जब तक इन दोनों कलाकारों की दुर्बलता का उद्घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कलाकृतियों के प्रत्यक्ष संपर्क में आ चुके थे और स्वयं बँगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ आदि से विमुख होकर दूसरी दिशा में प्रवृत्त हो गये थे।

५—सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नव निर्माण में सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारंभिक रचनाओं तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियों का स्वतंत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत कीं जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओं में ऐसी प्रतिभाएँ हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई रूप में कम महत्त्व नहीं है। आज के जागरूक आलोचक का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनाकृष्ट रहकर संतुलित एवं अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओं का अवमूल्यन न

और उसे शुद्ध आलोचना की कोटि म परिगणित नही किया। हिन्दी के छायावादी कवियो—विशेषकर महादेवी का सिद्धात प्रतिपादन रवीन्द्रनाथ से मिलता-जुलता है, कदाचित् उनसे प्रभावित भी हो सकता है। महाराष्ट्रीय आलोचक-प्रतिभा और भी अधिक शास्त्रनिष्ठ है। वहाँ के प्रतिनिधि आलोचकों ने भारतीय तथा यूरोपीय काव्य सिद्धांतो का अत्यन्त मनोनिवेश के साथ विवेचन विश्लेषण किया है, किंतु उनकी आलोचना के आधार शास्त्र अर्थात् काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन ही रहे हैं कल्पना और भावुकता को प्रश्रय नही दिया गया। इस प्रकार आधुनिक युग म भारतीय आलोचना, अपने परिनिष्ठित रूप में, देश विदेश के विभिन्न मूल्यों और तत्वो को ग्रहण करती हुई भी शास्त्र के पथ से विचलित नहीं हुई—वह कालिदास और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा भरत, भामह आनंदवधन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट और उधर अरस्तू आनल्ड, क्रोचे या व्यापक धरातल पर माक्स और फ्रायड को ही प्रमाण मानती रही है।

अन्त म, मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—अनेक भाषाओं के इस देश म किसी एक भाषा के कवि का जितना प्रभाव हो सकता था, अनुकूल परिस्थितियो के कारण, रवीन्द्रनाथ का प्रभाव भारतीय काव्य पर उससे अधिक ही मानना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव के सूत्रों को अलग अलग कर देखना सरल नही है क्योंकि स्वय रवीन्द्रनाथ के काव्य व्यक्तित्व का निर्माण स्वदेश विदेश के ऐसे विभिन्न प्रभावों के सघात से हुआ था जो उनके समसामयिक एव परवर्ती कवियों के लिए भी उसी रूप म सहज-सुलभ थे। उपनिषद् के आनंदवाद, वैष्णव काव्य की मधुर भावना या इगलण्ड के रोमानी कवियो के स्वच्छन्दतावाद या कालिदास काव्य के सांस्कृतिक वैभव का उपयोग रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार अन्य कवियो ने भी। आरम्भ में कहीं कहीं यह प्रभाव रवीन्द्रनाथ के माध्यम से आया है किन्तु बाद मे चलकर इस माध्यम की आवश्यकता नहीं पडी।

२—आधुनिक भारतीय साहित्य म अनेक सामाजिक सांस्कृतिक कारणों से पाश्चात्य रोमानी काव्य से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर जिस स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्ति का जन्म हुआ रवीन्द्रनाथ उसके स्रष्टा न होकर अग्रणी थे। अपनी महान् प्रतिभा के द्वारा वे इस रोमानी काव्य प्रवृत्ति के प्रेरक प्रभावों को भारत के अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों से बहुत पहले ही आत्मसात् कर चुके थे। इन नवीन स्वच्छन्द अनुभूतियों और रहस्यमयी जिज्ञासाओ को मूलरूप प्रदान करने के लिए जिस माध्यम की अपेक्षा थी रवीन्द्रनाथ की समृद्ध कारयित्री प्रतिभा उसका निर्माण कर चुकी थी, जिससे परवर्ती कवियों का काय सुकर हो गया।

३—सामान्य रूप मे बीसवी शताब्दी का प्रतिनिधि जीवन दर्शन है मानवतावाद, जिसके भारत मे दो प्रमुख व्याख्याकार हुए एक गाधी और दूसरे रवीन्द्र। गाधी ने मानव-सत्य का जहाँ अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहाँ रवीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा। दानो के मानवतावाद की परिणति भौतिक सीमाओ को पार कर आत्मावाद मे होती है। किन्तु फिर भी दोनो के दृष्टिकोण भिन्न हैं। गाधी दर्शन निरानंद है जबकि रवीन्द्र-दर्शन आनन्द से ओतप्रोत है। युग धर्म के इन दोनो द्रष्टाओ ने स्वभावत ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है। गाधी की दृष्टि आदर्शवादी एव धार्मिक थी अत साहित्य के क्षेत्र म उसके प्रभाव से लोकमगल की नये एव प्रबल रूप में प्रतिष्ठा हुई और लोककल्याण को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य माननेवाले प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा साहित्यकार अपनी कला म उसकी अभिव्यक्ति करने लगे। उधर कल्पनाशील तथा भावुक कवि-लेखको की गाधी के एकान्त उपयोगितावादी निरानन्द कला-दर्शन से तृप्ति नही हुई, इनके आदर्श बने रवीन्द्रनाथ। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ न एक ओर स्वच्छदतावादी रहस्यवादी काव्य प्रवृत्ति को प्रभावित किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय सास्कृतिक धारा को भी।

४—गद्य के क्षेत्र म रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा। उनकी अपेक्षा बँगला के ही शरत् ने भारतीय उपन्यास को और द्विजेन्द्रलाल राय न भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया। जब तक इन दोनो कलाकारो की दुर्बलता का उद्घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कलाकृतियों के प्रत्यक्ष सपर्क म आ चुके थे और स्वय बँगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ आदि से विमुख होकर दूसरी दिशा म प्रवृत्त हो गये थे।

५—सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नव-निर्माण म सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियो की प्रारभिक रचनाओ तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियो का स्वतत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत कीं जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियो के समकक्ष रखी जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओ म ऐसी प्रतिभाएँ हुई हैं जिनकी उपलब्धियो का इकाई रूप म कम महत्त्व नही है। आज के जागरूक आलोचक का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनासक्त रहकर सतुलित एव अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओं का अवमूल्यन न

करता हुआ आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास म रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्याकन करे। विश्वकवि के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने की यही सवश्रष्ठ पद्धति है—अभाव म भाव का अनुसधान कर, अनुमान के आधार पर, इधर उधर से उक्तियाँ और विचार एकत्र कर बरबस यह सिद्ध करना कि हमार वतमान साहित्य म जो कुछ सुन्दर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है घोर साहित्यिक अपराध होगा।

कामायनी का महाकाव्यत्व

ज्यों ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता हूँ, मुझे लांजाइनस की यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—

"महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्त्य में कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।" (काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ८६)

कामायनी के शिल्प विधान में निश्चय ही अनेक छिद्र रह गये हैं—उसका वास्तु शिल्प अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच सका, उसकी आधारभूत प्रकल्पना में जो अखंडता है, उसका प्रतिफलन वस्तु विन्यास में नहीं हो पाया—अंगों की समन्विति कई जगह टूट गई है, अभिव्यंजना में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं जो व्याकरण और काव्य शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, कुछ बिम्ब अधूरे रह गये हैं—अलंकार छिन्न भिन्न हो गये हैं शब्दों के फूलों की जाली में पंत के कोमल स्पर्श की साज-सँवार नहीं है, कहानी में मैथिलीशरण गुप्त की प्रबंध कला की गठन और प्रवाह नहीं है—आदि आदि। उसके दोषों की अन्वेषणा आज कुछ अधिक व्यग्रता से की जा रही है। आलोचक उसके गौरव के प्रति जितना आकृष्ट हो रहा है, आज का स्रष्टा कलाकार उसकी अपूर्णता के प्रति उतना ही आग्रहशील हो उठा है। इस प्रकार कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादों के रहते हुए भी कदाचित् सबसे महान् उपलब्धि है।

कामायनी की रचना प्रसाद ने महाकाव्य के रूप में की है। आमुख में मनु-श्रद्धा की कथा के ऐतिह्य रूप को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो उत्कट आग्रह व्यक्त किया है उसका मुख्य प्रयोजन यही है। अतः महाकाव्य के रूप में ही कामायनी का मूल्यांकन करना कवि के मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट रहेगा। स्वदेश विदेश के काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों की गणना प्रस्तुत संदर्भ में कदाचित् अधिक साधक न होगी। इसलिए मैं महाकाव्य के

उन्हीं मूल तत्वों को लेकर चलूगा जो देशकाल-सापेक्ष नही हैं, जिनके अभाव म किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाय नही बन सकती और जिनके सद्भाव मे परम्परागत शास्त्रीय लक्षणो की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वचित नही किया जा सकता। ये मूल तत्व हैं—१ उदात्त कथानक, २ उदात्त काय अथवा उद्देश्य, ३ उदात्त चरित्र, ४ उदात्त भाव और ५ उदात्त शैली। अर्थात् औदात्य ही महाकाय का प्राण है। किन्तु इस विषय म कोई भ्राति नही होनी चाहिए कि औदात्य और माधुय म किसी प्रकार का प्रकट या प्रच्छन्न विरोध है। इस भ्राति का निवारण करने के लिए मैं आधुनिक आलोचक ए० सी० ब्रडल के औदात्य सबधी प्रसिद्ध लेख की ओर इगित करूँगा जिसम उन्होने उदात्त को सौदय शास्त्र का शद मानते हुए उसे व्यापक अथ मे सौन्दय का ही एक रूप माना है। उनके अनुसार स्थूलत सुदर के पाँच भेद किये जा सकते हैं—उदात्त, भव्य, मधुर, मनोरम और ललित। इनमे पराकोटि है उदात्त और अपरा कोटि है ललित। अत सौन्दयशास्त्र की दृष्टि से ललित और उदात्त म भी कोई विरोध नहीं है—मधुर की स्थिति तो उदात्त के और भी अधिक निकट है। भारतीय दशन में ईश्वर की कल्पना और भारतीय काय शास्त्र म धीरोदात्त नायक की कल्पना ब्रडले के मत का मडन तथा उपयुक्त विरोध का खडन करती है। कामायनी के महाकाव्यत्व का मूल्याकन करने से पहले इस भ्राति का निराकरण आवश्यक था।

उदात्त कथानक

कथानक का अथ है घटनाओ का समवय। अत उदात्त या महान् कथानक का अर्थ हुआ महान् घटनाओं का समवय। घटना की महत्ता का मापक है उसका प्रबल प्रभाव तथा देशकाल मे विस्तार। इस प्रकार महाकाव्य के कथानक का निर्माण ऐसी घटनाओ से होता है जिनका प्रभाव प्रबल एव स्थायी हो और देश तथा काल दानो में जिनका विस्तार हो। इसके साथ ही उदात्त कथानक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका स्वरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप म ध्वसात्मक न होकर रचनात्मक हो—उसकी परिणति शुभ और मगलमयी हो। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध करना कठिन नही है कि कामायनी की घटनाएँ अत्यन्त उदात्त एव महान हैं। किन्तु उनका क्षेत्र ब्रह्माण्ड नहीं है, पिण्ड है—मानव आत्मा या मानव-चेतना है। परम्परागत महाकायों की आधारभूत घटनाओ—युद्ध आदि की भाँति उनका विस्तार

भौतिक जगत मे लक्षित नही होता—उनका विस्तार होता है मानव-चेतना के भीतर जहाँ घटित होकर व समग्र मानव जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती हैं। कामायनी की प्रमुख घटनाएँ हैं स्वार्थपूर्ण ग्रहंकार का पराभव, पुरुष और नारी का प्रथम मिलन, नारी का सर्वस्व-समर्पण, पुरुष और नारी के प्रणयपूर्ण ससर्ग से ससृति विकास, पुरुष की ग्रबाधित ग्रधिकार-भावना—उसके लिए बुद्धि-बल से भौतिक सघर्ष और अधिकार क्षेत्र का प्रसार, ग्रतिचार एव कुठा, बुद्धि पर पूर्ण ग्रधिकार करने का उद्दाम प्रयत्न और उसके परिणामस्वरूप मानव चेतना की पूर्ण विफलता, इस विफलता के मूल कारण की अवगति, और अन्त म सामरस्य तथा उसके फलस्वरूप पूर्णानन्द की सिद्धि। मानव के अधिमानसिक जीवन म इन सभी घटनाओ का महत्त्व अक्षुण्ण है। विश्व म होने वाली प्रबल घटनाएँ नाश और निमाण के समस्त दृश्य, भौतिक सघर्ष और विकास के विभिन्न रूप इन्हीं घटनाओ के प्रतिबिम्ब हैं। अवचेतन मनोजगत के उद्‌घाटन और तत्सम्बन्धी अनुसन्धानों से यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत का विराट् घटनाचक्र मानव-चेतना के अतल गह्वरों मे होने वाले घटना चक्र की छाया मात्र है। कामायनी के कवि ने इस रहस्य को समझा है और वर्तमान युग की वज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य म इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि कामायनी की घटनाओ मे निश्चय ही महाकाव्योचित प्रबलता और आयाम है, किन्तु यह प्रबलता और आयाम आधिभौतिक अर्थात् बाह्य एव ऐहिक नही हैं—चेतनागत तथा आध्यात्मिक है।

उपर्युक्त स्थापना का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि कामायनी की घटनाओ मे भौतिक जगत की सघनता का सर्वत्र अभाव है। जहाँ कथा का विकास मूर्त्त जगत की पृष्ठभूमि में होता है वहाँ परम्परागत महाकाव्य की घटनाओ की सघनता एव विस्तार भी यथावत् विद्यमान है—उदाहरण के लिए आरम्भिक सर्ग से देवदम्भ और प्रलय के वर्णन अथवा 'सघर्ष सर्ग से सारस्वत नगर के वभव के बीच प्रजा के साथ मनु के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रसगो मे उतनी नही है जितनी कि मनु (मानव) के ग्रहंकार के विस्तार मे अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्बाध प्रयास मे, अथवा आत्मा की तीन प्रवृत्तियो के प्रतीक त्रिलोक के दर्शन से मानव-चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि मे। बाह्य दृष्टि से देखने पर ये घटनाएँ अपनी अमूर्त्तता के कारण अनाकर्षक प्रतीत होती हैं, किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव-चेतना बुद्धि पर अबाध अधिकार

प्राप्त करने का दुदम प्रयास कर रहा है उसे देखते हुए इससे प्रबलतर घटना की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

सामासिक रूप से विचार करने पर भी कामायनी के कथानक म अपूव आयाम है। वह केवल एक महापुरुष की जीवन गाथा नही है, एक राजवश का वृत्तवणन मात्र नही है, एक युग या राष्ट्र की कथा नहीं है। वह तो सपूर्ण मानवता के विकास की गाथा है—अथ से इति तक। अन्य महाकाव्य जहाँ मानव-सभ्यता के खड चित्र प्रस्तुत कर रह जाते हैं, वहाँ कामायनीकार ने उसका समग्र चित्र प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया है। यह प्रयास पूण नहीं हुआ, किन्तु इसकी परिधि विस्तार इतना अधिक है कि अपनी अपूणता म भी यह अद्भुत है—असामान्य है।

उदात्त काय

कामायनी का काय है भाववृत्ति, कमवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति के सामजस्य द्वारा समरसता और उसके फलस्वरूप आनद की सिद्धि। कवि ने इस काय की सिद्धि के लिए त्रिलोक के प्रतीक की उद्भावना कर अत्यन्त कौशलपूवक उसे दिगन्त विस्तार प्रदान कर दिया है। आध्यात्मिक जीवन की सबसे बडी दुघटना है इच्छा, क्रिया, और ज्ञान की विश्रृखलता। मानव-चेतना के इतिहास म जब-जब इन तीनों में असामजस्य हुआ है, जीवन विकास अवरुद्ध हो गया है—ससार म अराजकता और अशाति फल गई है। *आज के भौतिक जीवन का भी सबसे बडा* अभिशाप यह है कि हमारे धम और सस्कृति की दिशा एक है, राजनीति की दूसरी और विज्ञान की तीसरी—क्रमश भाव, क्रिया और ज्ञान के ये प्रतिरूप एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। इसका परिणाम है वतमान अशान्ति—जो वास्तविक युद्ध अथवा शीत युद्ध आदि के रूप मे व्यक्त हो रही है। इस भीषण समस्या का समाधान है मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए जीवन की इन तीनों प्रवृत्तियो म ऐकात्म्य स्थापित करना। ज्योंही मानव-कल्याण को लक्ष्य बनाकर हमारी सस्कृति, हमारी राजनीति और हमारा विज्ञान एकान्वित हो जायेंगे, तुरन्त ही इस युग की विषम समस्या का समाधान हो जायेगा। इस प्रकार कामायनी में वतमान के आधार फलक पर प्रसाद ने मानव जीवन की उस मूल *समस्या का चिरतन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामयिक होकर भी शाश्वत* है। सामयिक तथा सावकालिक और एकदेशीय तथा सवदेशीय का यह एकीकरण महाकाव्य का प्रधान लक्षण है और इस लक्षण का निर्वाह जिस भव्य रूप में कामायनी के अन्तगत हुआ है वसा अन्यत्र नही। इस प्रकार कामायनी का काय

सर्वथा उदात्त है। ऐसी गरिमा और ऐसा विराट् आयाम और किस महाकाव्य में काय म है ?

उदात्त भाव

कामायनी का मूलवर्ती भाव अथवा महाभाव भी, जिसे काव्यशास्त्र की शब्दावली म 'अगीरस' कहा गया है, अपने प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है। सामान्यत उसम विभिन्न रसो का परिपाक है श्रद्धा मनु के प्रसगों मे सयोग वियोगमय शृगार, श्रद्धा और कुमार के प्रसग मे वात्सल्य, प्रलय के वर्णन मे भयानक, देवताओं के अवसान म करुण, सघष तथा रुद्रकोप मे वीर एव रौद्र, शिवताण्डव के वर्णन और रहस्य सग म अद्भुत का प्रसार, पशु की हत्या मे वीभत्स, आरम्भ तथा मध्य म निर्वेदमूलक शान्त और अन्त म आनन्दपूर्ण सामरस्य मे भी शान्त रस का भव्य विकास है। परन्तु इनमे से किसी भी एक को, औरो का तो प्रश्न ही नही—काव्यशास्त्रीय अथ म शान्त या शृगार को भी, कामायनी का महा रस मानना कठिन है। उसके पूर्वार्द्ध मे शृगार का प्राधान्य है तथा उत्तरार्द्ध में शान्त का। और, इन दोनो रसो का ही इतना प्रबल परिपाक हुआ है कि किसी एक को अगीरस मानना कठिन है—वस्तुत प्रसाद ने ऐसा किया भी नहीं है। सीमित काव्यशास्त्रीय अथ म प्रसाद ने न शृगार को और न शान्त को कामायनी का अंगीरस बनाया है। जिस प्रकार कामायनी का कथानक जीवन को अखडता म ग्रहण करता है और जिस प्रकार कामायनी का प्रतिपाद्य जीवन की एकागी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है, इसी प्रकार कामायनी का अगीरस भी एकागी शान्त या शृगार नही है, वरन् अखड आत्म रस है। इसी को महारस या आनद रस कहा गया है। अभिनव ने इसे ही मौलिक, अथ मे शान्त और भोज ने शृगार की सज्ञा प्रदान की है। स्वय प्रसाद के शब्दो में भी यही मौलिक रस है जो सामान्य अथ म रस की दोनों सीमाओं—शृगार तथा शात—का स्पश करता है और जो निस्तरग महोदधिकल्प सामरस्य का पर्याय है—

"शवागम के आनद सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओ शृगार और शात को स्पश करते थे। यह शातरस निस्तरग महोदधिकल्प समरसता ही है।"

उदात्त चरित्र

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए और धीरोदात्त के लक्षण हैं, महासत्व अतिगम्भीर, क्षमावान्, अवि-

कत्यन, स्थिर, निगूढ़ अहंकारवान् और दृढव्रत। इन लक्षणों के आधार पर स्पष्टत मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नहीं होते। धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व का निर्माण जहाँ मानव-सभ्यता की अत्यन्त विकसित स्थिति म ही संभव है, वहाँ मनु का व्यक्तित्व विकास मानव चेतना के विकास का प्रतीक है। मनोविज्ञान तथा विकासवाद (जिनको प्रसाद ने आधार रूप में ग्रहण किया है)—दोनों के ही अनुसार आदि-पुरुष मनु का चरित्र पूर्ण विकसित रूप म अंकित नहीं किया जा सकता था। सहज मानव चेतना का प्रतीक होने के नाते मनु का चरित्र विकासशील है, शवदर्शन की शब्दावली में वह पाशव या आणव स्थिति से आरम्भ होकर शाम्भव स्थिति को प्राप्त करता है। नायक के चरित्र का यह विकास कामायनी के प्रतिपाद्य के अनुरूप ही नहीं है वरन् उसके लिए अनिवार्य भी है–धीरोदात्त गुणों से समन्वित विकसित चरित्र की संगति न कामायनी के कथानक के साथ बठ सकती है और न उसके प्रतिपाद्य के साथ ही। इसलिए, मनु की दुर्बलताओं का उल्लेख कर जो कामायनी की दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं व कामायनी के स्वरूप तथा लक्ष्य दोनों के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण मनु अहंकार स्वार्थ, इंद्रिय लिप्सा, अस्थिरता आदि अनगढ मानव चेतना की हीनतर प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकते थे, किन्तु क्रमश इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर वे पूर्ण समरस मानवत्व, आध्यात्मिक शब्दावली म शिवत्व की सिद्धि करते हैं जहाँ वे धीरोदात्त स्थिति से भी कहीं ऊपर उठ जाते हैं।

एक पुरुष का प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष और उस पर विजय का महान् प्रयास —मनु के चरित्र चित्रण का एक रूप यह भी हो सकता था, जो परम्परागत महाकाव्य के अनुरूप होता। आचार्य शुक्ल प्रजापति मनु का चरित्र विकास इसी रूप में देखना चाहते थे इसीलिए कामायनी म उसका अभाव देखकर उनका मन खिन्न हो गया। इसमें संदेह नहीं कि प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से मनु का यह विराट व्यक्तित्व विकास निश्चय ही बड़ा आकर्षक होता, किन्तु कामायनी का कवि तो अपने कथानक तथा प्रतिपाद्य की विशेष परिस्थितियों से विवश था, अत उसके लिए यह पद्धति ग्रहण करना संभव ही नहीं था। अन्तर्मुख कथानक के नायक का व्यक्तित्व प्रसार देशकाल के विस्तार में संभव नहीं था, इसीलिए चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि धीरोदात्त चरित्रों की सफल सर्जना करने के उपरान्त भी प्रसाद शुक्ल जी की उस विराट कल्पना मूर्ति का अंकन नहीं कर सके। यह भव्य चित्र उनकी कल्पना म उभरा ही न हो, ऐसा न ... है। इस शंका को निर्मूल करने ... की आरम्भिक पंक्ति...

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह ॥
नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ॥

प्रकृति के सार्वभौम आधार-फलक पर एक पुरुष के रूप में मनु की यह प्रतिष्ठा उसी विराट कल्पना की ओर संकेत करती है, किन्तु स्पष्ट है कि उपर्युक्त कारणों से कवि उसे मूतरूप नहीं दे सका।

श्रद्धा का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है। सात्विक गुणों से पूर्ण विश्वमंगल-भावना की प्रतीक श्रद्धा का व्यक्तित्व विकास की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्पष्टत श्रद्धा, मनु की भाँति, अनगढ़ मानव चेतना का उसके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करती। मनु के व्यक्तित्व में जहाँ मानव चेतना की हीनतर और उच्चतर दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण अनिवार्य था वहाँ श्रद्धा केवल उच्चतर प्रवृत्तियाँ अर्थात् दया, माया, ममता, मधुरिमा और विश्वास आदि ऐसी प्रवृत्तियों का ही प्रतिनिधित्व करती है जो मानव-चेतना को पूर्णत्व—दार्शनिक शब्दावली में पूर्ण शिवत्व, प्राप्त करने म सहायता देती हैं। इस प्रकार श्रद्धा के चरित्रांकन म वह बाधा नहीं रही जो मनु के प्रसग में थी, अत उसम परम्परागत महाकाव्योचित औज्ज्वल्य एव गरिमा का भी अद्भुत समावेश हो गया है। यही इडा के विषय म भी सत्य है। उसके व्यक्तित्व में भी वांछित एश्वय एव गरिमा है। किन्तु श्रद्धा और इडा अपना एतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ का द्योतन भी करती हैं, स्वभावत उनकी प्रतीकता के कारण चारित्रिक रूप-रेखा म वसी दृढ़ता और मूर्त सघनता नहीं आ सकी जसी कि पाश्चात्य महाकाव्यों के चरित्रों में मिलती है।

उदात्त शैली

कामायनी की शैली सवत्र ही एक अपूर्व लोकोत्तर स्तर पर अवस्थित रहती है। उसम क्षुद्रता का एकान्त अभाव है प्रयत्न करने पर संपूर्ण काव्य म एकाध अपवाद ही मिलेगा। पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य की शैली का प्रमुख गुण माना है असाधारणता। कामायनी की शैली म इन गुणों का प्राचुर्य प्राय दोष

की सीमा तक पहुँच गया है। यहाँ सामान्य प्रसगो में भी शली का स्तर प्राय असामान्य ही रहता है और जहाँ कहीं कवि सामान्य धरातल पर उतरने का प्रयत्न करता है, वहीं शली का स्वरूप विकृत हो जाता है। फलत उसमें अद्भुत ऐश्वय एव अलकार विलास है, लक्षणा-व्यजना का विचित्र चमत्कार है। कल्पना तथा भावना के अपूव वभव के कारण इस शली म मूर्तिविधान एव बिम्ब योजना की अद्भुत समृद्धि मिलती है। कामायनी की भाषा सवत्र ही चित्रभाषा एव प्रतीक भाषा है जिसम तत्सम तथा सचित्र ससदर्भ शब्दावली का मुक्त प्रयोग हुआ है। भाषा और अभिव्यजना के इन असाधारण गुणो के फलस्वरूप कामायनी की शली सामान्य से सवथा भिन्न हो गई है।

शली की असाधारणता के प्रति आग्रह के कारण ही कामायनी की शली म इतिवृत्तवणन का एकान्त अभाव है। कवि ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से मनन, चिन्तन, सवाद, स्वगत, स्वप्न, दृश्य विधान आदि के द्वारा कथा का विकास किया है। इतिवृत्त शली के प्रति प्रसाद क मन म एक विचित्र वितृष्णा रही है। कामायनी मे कथा का स्तर कल्पना विलास, दाशनिक गरिमा और रागात्मक ऐश्वय के कारण सामान्य से इतना भिन्न रहा है कि वृत्त वणन की ऋजुता इस समृद्धि का वहन नहीं कर सकती थी।

भारतीय काव्यशास्त्र मे, व्यजना से, महाकाव्य की शली को नानावणन क्षमा माना गया है। कामायनी की शली में यह गुण स्पष्टत विद्यमान है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और उदात्त से उदात्त मन स्थिति का अकन करने म पूणत समथ है। सुन्दर और विराट, मधुर और भयानक आदि के वणन म उसकी समान गति है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की शली के लिए यह भी अपक्षित है कि वह विस्तारगर्भा हो, मूत, सघन एव प्रबल हो उसमे दुर्दम नद प्रवाह हो। ये गुण वास्तव म ऐहिक कथा प्रधान महाकाव्यो की शली म मिलते हैं। कामायनी मे भी जहाँ भौतिक घटनाओ की प्रधानता है, इन गुणो का सम्यक प्रयोग है जसे प्रलय-वणन, सघष आदि म, मनु के अहकार आदि की अभिव्यजना में ओज गुण का भी उचित समावेश है। किन्तु शली के अधिकाश कलेवर म सघनता आदि गुणों का निर्वाह सभव नहीं हुआ। क्योकि कथावस्तु अतमु ख है बहिर्मुख नही है, इसलिए मूत्त घटनाओ और दृश्यो के सकुल वणन से शली मे जो एक प्रकार का सहज घनत्व एव नद प्रवाह उत्पन्न हो जाता है वह यहाँ नहीं मिल सकता। इसी अतमुखता के कारण कामायनी की शली म प्रगीत तत्त्व स्थान स्थान पर उभर आता है। सामान्यत वह महाकाव्य का दोष है, किन्तु यहाँ तो विधान ही अन्तरग है और घटनाओ की विकास भूमि मानव

चेतना है, इसलिए प्रगीत तत्त्व यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

समग्रत, कामायनी की शैली निश्चय ही भव्य है। कवि की प्रतिभा ने एक विराट शून्य को कल्पना और भावना के ऐश्वर्य से जगमग कर दिया है।

निष्कर्ष

कामायनी का महाकाव्यत्व असंदिग्ध है—परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र—दोनों में से किसी एक के भी लक्षणों का पूर्ण निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्तत्त्व कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान हैं।—केवल एक ही विपर्यय है, वह है कार्य व्यापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप कथा में वाञ्छित भौतिक विस्तार नहीं आ सका क्योंकि कामायनी का वस्तु विकास बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है वह मानव चेतना के विकास की कथा है जो मनु के जीवन विकास के माध्यम से कही गयी है। साधारणीकरण के लिए यहाँ कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है जिसके द्वारा मनु मानव चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य—ऐहिक जीवन प्रधान महाकाव्य—की कोटि में कामायनी नहीं आती। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है मानव चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक-तत्त्व जो सामान्यतः महाकाव्य में बाधक होता है यहाँ साधक बनकर आया है, इसीलिए प्रगीत तत्त्व भी यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अद्भुत उपलब्धि है। इसी रूप में यह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के समन्वय के कारण—कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण।

दीपशिखा की भूमिका

दीपशिखा महादेवी जी की पाँचवी काव्य कृति है—इससे पूर्व उनकी चार रचनाएँ क्रमश नीहार, रश्मि, नीरजा' और 'सान्ध्यगीत नाम से प्रकाशित हो चुकी थी। नीहार म महादेवी का किशोर कवि एक प्रकार से अपरिचित काव्य लोक म प्रवेश करता है, अत वहाँ परिचायक रूप म कवि-सम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध की अत्यन्त सक्षिप्त भूमिका है। रश्मि मे दर्शन के अध्ययन के प्रभाव स कवि मे थोडा आत्म विश्वास आता है और अपनी बात नाम से एक छोटी सी भूमिका के दर्शन पहली बार होते हैं नीरजा का परिचय फिर रायकृष्णदासजी के शब्दो मे दिया गया है किन्तु 'सान्ध्यगीत के आरम्भ मे कवि की अपनी भूमिका है जिसमे स्थिर रूप स काव्य स सम्बद्ध कतिपय मौलिक प्रश्नो का विवेचन किया गया है। दीपशिखा की भूमिका का कलेवर इन सब की अपेक्षा कहीं व्यापक और उसका स्वर कही अधिक आश्वस्त है। यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को उत्तेजित कर दिया गया है। इस उत्तेजना की पृष्ठ भूमि भी स्पष्ट ही है। उन दिनो प्रगतिवाद का आन्दोलन ज़ोर पकड रहा था—और यह जोर रचनात्मक कम, ध्वसात्मक अधिक था। प्रगतिवाद के पक्षधर आलोचक पूर्ववर्ती काव्य मूल्यो की भस्म पर नवीन सामाजिक मूल्यो का आरोपण करने के लिए प्रयत्नशील थे और उनका सीधा प्रहार था छायावाद पर, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप म प्रगतिवाद का जन्म हो रहा था। कुछ कवि और आलोचक इस कोलाहल म कच्चे पडने लग गये थे—छायावाद के प्रबल समर्थक प्रगतिवाद को कवि के चारित्र्य की कसौटी' मानने पर आमादा हो गये थे। उस वातावरण म दीपशिखा का और उससे भी अधिक दीपशिखा की भूमिका का प्रकाशन अत्यन्त महत्वपूर्ण और सामयिक घटना थी।

इस भूमिका म कवयित्री ने काव्य से सम्बद्ध अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं उदाहरण क लिए—सत्य का स्वरूप काव्य और सत्य सौन्दर्य का स्वरूप, काव्य और उपयोगिता, ललित और उपयोगी कलाओ का भेद और उसकी

निरर्थकता, आदर्श एवं यथार्थ की परिभाषा और दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, रहस्यानुभूति और आधुनिक काव्य में उसकी स्थिति, छायावाद और अंत मे प्रगतिवाद जिसके लिए इस नवीन और राजनीतिक नामकरण को छोड अपेक्षाकृत व्यापक शब्द यथार्थवाद का प्रयोग किया गया है। भूमिका का चतुर्थ एवं अन्तिम खंड दीपशिखा की कविता के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है—यहाँ कवि ने गीत की परिभाषा और स्वरूप, गीत के दो प्रमुख भेद—रहस्य-गीत और सगुण-गीत, दीपशिखा में गीत और चित्रकला के योग, इन दोनों के लिए प्रयुक्त प्रकृति के उपकरण आदि पर संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वक्तव्य दिये हैं। इस विवेचन के अन्त में यह भी संकेत किया गया है कि कवि का अपना जीवन एकांत काव्य साधना का जीवन नहीं है—उसके 'कर्मक्षेत्र की विविधता भी कम सारवती नहीं' है—उसने आज के 'उपेक्षित संसार में भी बहुत कुछ भव्य पाया है अन्यथा सभ्य समाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती।'

सत्य मूलत अखंड अत असीम है, किन्तु जब वह व्यक्ति की चेतना का विषय बनता है तो उसके लिए एक विशेष सीमा में आना अनिवार्य हो जाता है—इस प्रकार सत्य की यह दोहरी स्थिति सहज स्वाभाविक है वास्तव में इस दोहरी स्थिति में ही वह हमारे सामने आता है। भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र पृथ्वी के उन दो गोलार्धों के समान हैं जो मिलकर सत्य की इस चेतना को पूर्णता प्रदान करते हैं। व्यक्ति का सत्य राग और बुद्धि के इन दो अर्धवृत्तों से अनिवार्यत घिरा रहता है।—इनमें राग अथवा अनुभूति की प्रवृत्ति गहराई की ओर है और बुद्धि की विस्तार की ओर, जीवन का सत्य इन्हीं दोनों में परिवेष्टित रहता है। असीम सत्य को व्यक्ति की सीमित चेतना में प्राप्त करना—अखण्ड को खंड में सिद्ध कर लेना मानव चेतना के लिए जितना दुष्कर है उतना ही अनिवार्य भी। मानव-चेतना ने सत्य की इस सिद्धि के लिए जितने माध्यमों का अनुसंधान किया है, काव्य या कला उनमें सब से सफल माध्यम है। इसीलिए महादेवी का मत है कि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है। सौन्दर्य बाह्य रेखाओं और रंगों का सामंजस्य मात्र नहीं है—'सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है।' सौंदर्य वस्तुत विकास के लिए अपेक्षित जीवन के प्रत्येक स्पंदन का पर्याय है, उसकी परिधि से छोटा, बडा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। उसके भीतर बहिर्जगत और अन्तर्जगत दोनों का वैविध्य समंजित है। इस प्रकार महादेवी के अनुसार, उपर्युक्त संदर्भ में, कला सौंदर्य के माध्यम से सत्य की

अभिव्यक्ति का नाम है।

उपयोगी और ललित कलाओं के रूप में कला का वर्गीकरण महादेवी जी को स्वीकार्य नहीं है—इस प्रकार का वर्गीकरण अत्यंत स्थूल है क्योंकि तत्व दृष्टि से उपयोगिता और लालित्य अथवा सौंदर्य में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। स्थूल द्रष्टा आलोचकों ने उपयोगिता का अर्थ जीवन की बहिरंग आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित कर सौंदर्य से उसका भेद कर दिया है। किन्तु यह भेद मिथ्या है। उपयोगिता के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असंख्य रूप हो सकते हैं और ये सूक्ष्मतर रूप ही वास्तव में सौंदर्य के पर्याय बन जाते हैं। इसी प्रकार सौंदर्य की भी अपनी विशेष उपयोगिता है जो जीवन की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, काव्य और ललित कलाओं का उपयोग उस उन्नत रागात्मक भूमिका पर स्थित होता है जो साधारणीकृत होने के कारण सहज रमणीय या सुन्दर होती है। इसी परिप्रेक्ष्य में कवि ने काव्यगत नैतिक मूल्यों की भी व्याख्या की है—काव्य में नैतिकता का अर्थ विधि निषेध नहीं है। जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्यानुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अंतर्जगत में ऐसी स्फूर्ति पैदा कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे।' काव्यगत नैतिक मूल्य दूसरे प्रकार के अन्तर्गत ही आते हैं—अर्थात् काव्य के क्षेत्र में नैतिकता उन मूल्यों का नाम है जो जीवन के सामंजस्यपूर्ण विकास में सहायक होते हैं और चूंकि सामंजस्य ही सौंदर्य का भी आधार तत्त्व है, इसलिए नीतिगत मूल्यों में और सौंदर्यगत मूल्यों में कोई तात्विक भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्य विषयों का भी महादेवी ने गम्भीर चिन्तन किया है। अनुभूत होने के कारण उनके विचारों में एक विशेष प्रकार की मार्मिकता और विश्वास की दीप्ति आ गई है। इसलिए हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनके अनेक वाक्य सूत्र बनकर प्रचलित हो गये हैं जैसे—बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों को मिलाकर एक ऐसी काव्य सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक नामों का भार संभाल सकी।

"साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

प्रस्तुत प्रसंग में महादेवी की इन सभी मान्यताओं की समीक्षा करने का अवकाश नहीं है। इसलिए मैं केवल एक ऐसे प्रश्न को ही लेता हूँ जो अधिक

ज्वलत है और जिसका महादेवी के काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह है आधुनिक काव्य में रहस्यानुभूति का प्रश्न। बौद्धिकता के इस युग म छायावाद के कवि ने जब अपनी कविताओं में परोक्ष आलबन के प्रति प्रणय निवेदन का आग्रह किया तो अनक आलोचकों ने उसकी अनुभूति की सत्यता पर सन्देह किया। महादेवी ने प्रस्तुत भूमिका मे अपने पक्ष म अनेक तक दिये हैं — १—प्रत्येक सामजस्य अथवा सौन्दय की अनुभूति ही अपने मूल में रहस्यानुभूति हाती है। २—अपनी अपूर्णताओं को किसी पूर्ण आदश की कल्पना म समर्पित करने की लालसा मानव म जन्मजात है। उन्हीं के शब्दो म 'स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अत किसी उच्चतम आदश, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमपण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।' ३—यह आत्मसमपण किसी न किसी प्रकार के रागात्मक सबध की ओर इगित करता है और रागात्मक सबधों मे भी केवल माधुय भाव के द्वारा ही पूर्ण के साथ अपूर्ण का एकान्त तादात्म्य सभव हो सकता है। इस प्रकार से परोक्ष या रहस्यमय आलबन के प्रति प्रणय निवेदन मानव-हृदय की एक सहज प्रवृत्ति और प्राय एक सहज आवश्यकता भी हो जाती है। ४—प्राचीन काव्य का इतिहास भी इस प्रकार की रहस्यानुभूति को सिद्ध करता है। कवि के अपने शब्दो म ही—"अखड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमपण सभव है या नहीं—इसका जो उत्तर अनेक युगा से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए।"—'प्रकृति के अस्तव्यस्त सौन्दय म रूप प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों म गुण, प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि म एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अत में रहस्यानुभूति का जसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।"

इसम सन्देह नही कि ये तक अपने आप म बडे प्रबल हैं और वास्तव में आधुनिक बुद्धिजीवी कवि की रहस्यानुभूति के पक्ष म कल्पना और वैदग्ध्य जितने भी उपकरण एकत्र कर सकत थ, वे सब यहाँ उपस्थित हैं। किन्तु हमारा विनम्र निवेदन है कि इन तर्कों में कल्पना की रमणीयता ही अधिक है। इनसे न प्रश्नकर्ता की बुद्धि ही निरुत्तर होती है और न उसका हृदय ही इन पर प्रत्यय कर पाता है। बुद्धि उत्तर देती है कि आपने जो कुछ कहा अर्थात् उच्चतम आदश, भव्यतम सौन्दय या पूर्ण व्यक्तित्व और उसके प्रति माधुय मूलक आत्म समपण, यह सब तो कल्पना का चमत्कार है। इन सबकी कल्पना पर किसी को आपत्ति नहीं है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के काव्य का मूला-

धार रहस्य प्रणय की अनुभूति है या उसकी कल्पना ? यदि कल्पना है तब तो समस्या का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु यदि रहस्य प्रणय की अनुभूति का आग्रह है तो वह पूर्वोक्त तर्कों से सिद्ध नहीं होती। अत छायावादी काव्य म अभिव्यक्त रहस्यानुभूति की व्याख्या के दो मार्ग हैं—एक पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाता है अर्थात् पार्थिव प्रणय भावना के उन्नयन की ओर इंगित करता है और दूसरा, जैसा कि महादेवीजी मानती हैं अपार्थिव रहस्यानुभूति को लौकिक प्रणय प्रतीकों के माध्यम स व्यक्त करता है अर्थात् अपार्थिव स पार्थिव की ओर आता है। महादेवी जी की मान्यता को स्वीकार कर लेने से एक बडा अहित यह होता है कि छायावाद की, विशेषकर उनके काव्य की, प्रेरक शक्ति 'अनुभूति' न होकर 'अनुभूति की कल्पना' मात्र रह जाती है और प्रकारान्तर से छायावाद का समर्थक उसके आलोचकों के आक्षेप के सामने सिर झुका देता है।

किन्तु यह तो एक प्रसग मात्र है और इसके विषय म भी अतिम निर्णय देना समव नही। हिन्दी आलोचना के विकास म इस भूमिका का महत्व असाय है। इससे छायावादी काव्य-दृष्टि अनाविल हुई, उसके सम्बन्ध म प्रचारित अनेक भ्रातियो का निराकरण हुआ, शाश्वत काव्य मूल्यों की पुन प्रतिष्ठा हुई और हिन्दी म सौष्ठववादी आलोचना का पथ प्रशस्त हुआ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य

हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की संविधान सभा ने उसे राज भाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतन्त्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के वात्याचक्र में फँस गयी। हिन्दी का मंच राजनीतिक नेताओं से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उस पर बैठने की जगह भी नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्यकार की चेतना दो भिन्न, प्राय विरोधी, सरणियों में विभक्त हो गई। सबसे पहले तो उसे भाषा की समस्या से उलझना पड़ा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो अंग हैं एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से अभिप्रेत है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस के साहित्य का वाचक है। इस तरह स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं जो बाह्य रूप में सम्बद्ध होती हुई भी तत्त्व रूप में भिन्न थीं (१) भाषा की, (२) व्यावहारिक साहित्य की, और (३) काव्य अथवा रस के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९६१ तक, इन चौदह वर्षों में, हिन्दी-साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएँ हैं, जिन्हें आधार मानकर उसकी उपलब्धियों का सिंहावलोकन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होते ही हिन्दी भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है, जिससे अनेक महारथी जूझ गये और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति को योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं। किन्तु भाषा का एक साहित्यिक पक्ष भी है और वह हमारा अपना दायित्व है। या तो रामप्रसाद निरंजनी से लेकर हमारी अपनी पीढ़ी के हिन्दी लेखकों तक हिन्दी भाषा की शक्तियों का समुचित

विकास हो चुका था—महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया, पद्मसिंह शर्मा ने उसे गोष्ठी मडन बनाया, प्रेमचन्द ने उसकी व्यावहारिक शक्ति का विकास किया, रामचन्द्र शुक्ल ने गम्भीर विवेचन के माध्यम रूप म उसका परिपाक किया, पन्त ने उसको सूक्ष्म सौन्दय विवृतियो के उद्घाटन की क्षमता दी, और सन् १९४७ में आधुनिक हिन्दी एक प्रौढ परिपक्व भाषा क रूप म विद्यमान थी। परन्तु राजभाषा बनते ही उसके सामने अनायास ही अनेक समस्याएँ उठ खडी हुई और काव्य साहित्य के दायित्व को विश्वास के साथ निबाहने वाली भाषा नवीन दायित्वो के भार से जसे कुछ समय के लिए काँप गई। किन्तु आधार पुष्ट था—और डा० रघुवीर जसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिन्दी की अन्तभूत शक्ति का सम्यक विकास आरम्भ कर दिया। डा० रघुवीर के आगे-पीछे और भी शब्दकार इस दिशा म बढे—जसे महापण्डित राहुल साकृत्यायन और हिन्दी के वयोवृद्ध कोशकार बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि। आरम्भ म आचाय रघुवीर का बडा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने सविधान अनुवाद-समिति म उनके साथ काय आरम्भ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दो स भी अधिक उनकी असहिष्णु पद्धति सवथा अग्राह्य प्रतीत हुई। किन्तु जस जस हम शब्दो की आत्मा म प्रवेश करते गये, वसे वसे मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने समस्त गुण-दोषो के रहते हुए भी उनका माग ही ठीक है। वास्तव म आचाय रघुवीर के दोष पहले सामन आते हैं और गुण बाद म। उनका प्रमुख दोष यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक प्रकृति स उनका सहज सम्बन्ध नही है और दूसरे वे शब्दकार हैं, शलीकार नही। किन्तु फिर भी अपन क्षेत्र म वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यन्त समृद्ध हैं। सस्कृत भाषा की निर्माण-क्षमता को उन्होने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दस पन्द्रह वर्षों मे उनको शब्द निर्माण कला का अद्भुत अभ्यास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्ही अकेले व्यक्ति ने लक्षावधि शब्दो का निर्माण कर दिया है। किन्तु इससे भी बडी उपलब्धि उनकी यह है कि उन्होने शब्द निर्माण के मूल सिद्धान्त का आविष्कार, या कम से कम अत्यन्त सफल प्रयोग, किया है। उनका प्राय सभी दिशाओ से विरोध हुआ किन्तु अन्त म अब उन्ही की पद्धति का अवलम्बन किया जा रहा है। जो नही कर रहे हैं वे 'विचविन्दी' और 'खोली' जसे शब्दो का निर्माण कर इस सभ्य देश की राष्ट्रभाषा का अपमान कर रहे हैं।

डा० रघुवीर के बाद शिक्षा मन्त्रालय ने यह काय अपने हाथ म लिया।

मन्त्रालय के तत्त्वावधान में अनेक भाषाविदों और विभिन्न शास्त्रीय विषयों के आचार्यों की सहायता से विपुल संख्या में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है और अब उनके आधार पर पारिभाषिक कोश का पहला भाग मुद्रण के लिए तैयार हो रहा है। यह शब्दावली स्वभावतः अधिक व्यापक है। एक तो इसकी रचना में अनेक प्रतिनिधि विद्वानों का हाथ है और दूसरे केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की स्वीकृति इसे प्राप्त है, इसलिए इसका प्रचार और प्रसार बढ़ रहा है। इसी बीच में कुछ सुलभ कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं—जैसे डा० हरदेव बाहरी का अंग्रेजी हिन्दी कोश और श्री रघुराज गुप्त का 'समाज शास्त्र मानवशास्त्र पर्याय कोश'। इस विषय में श्री नरवणे द्वारा सम्पादित 'व्यवहार कोश' भी उल्लेखनीय है जिसमें सभी भारतीय भाषाओं के पर्याय एकत्र मिलते हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी भाषा की शब्द शक्ति का निश्चय ही तीनों रूपों में विकास हुआ है (१) विपुल संख्या में नवीन शब्द उपलब्ध हुए हैं, (२) शब्दों के रूप स्थिर हुए हैं और हो रहे हैं, (३) हमारी भाषा ने अर्थगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को अभिव्यक्त करने की क्षमता का अर्जन किया है। भाषा में आनुपूर्व्य की जो शक्ति आज है वह सन् १९४७ से पूर्व नहीं थी। किन्तु चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। हमारे अनेक साहित्यकारों का यह दावा है कि संस्कृत का वर्द्धमान प्रभाव हिन्दी के स्वरूप का ग्रास करता जा रहा है। मैं इस शंका को सर्वथा निर्मूल नहीं मानता, किन्तु फिर भी मैं विशेष चिंतित नहीं हूँ क्योंकि इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है। भाषा की गरिमा, चित्रात्मकता और व्यंजना शक्ति का जितना विस्तार संस्कृत के आधार पर हो सकता है उतना इधर उधर से बिना किसी नियम अथवा क्रम के गिने चुने शब्दों से नहीं हो सकता। इस विकासशील भाषा के विरुद्ध एक आक्षेप और भी है जो वास्तव में उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता और वह यह कि इस प्रकार क्या हम वास्तव में एक अनुवाद भाषा का विकास नहीं कर रहे? आज जिन नवनिर्मित शब्दों से हिंदी का भाण्डार समृद्ध हुआ है वे सभी अनूदित शब्द हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह विकास स्वाभाविक माना जा सकता है? यह शंका मेरे मन में भी बार बार उठती है किन्तु इसका समाधान भी दूर नहीं है और वह यह है कि कोई भी प्राणवती भाषा अनुवाद की भाषा नहीं रह सकती। जो अनूदित शब्द आज आ गये हैं वे शीघ्र ही समय लेखकों की अभिव्यंजन प्रक्रिया में पड़कर भाषा में ही अभिन्न रूप से घुल मिल जायगे। जिस महान् देश की संस्कृति एक के बाद एक विदेशी जाति के संस्कारों को आत्मसात् करती चली गई उसकी भाषा को कुछ नई शब्द-छायाओं को पचाने में कितनी देर लगेगी?

भाषा के उपरात राजनीतिक दृष्टि से दूसरा प्रश्न सामने आया व्यवहार के साहित्य का। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी का यह अग निश्चय ही अविकसित था और अब भी है। कारण यह था कि इसके विकास का अवसर ही नहीं मिला। शासन और शिक्षा दोनों का माध्यम अंग्रेजी थी और इस प्रकार का समस्त ज्ञान-साहित्य उसी म प्रस्तुत होता रहा। किंतु स्वतत्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनो ही क्षेत्रों म हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की माँग होने लगी। पिछले चौदह वर्षों म स्थिति म निश्चय ही सुधार हुआ है। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानो क क्षेत्र म अनेक ग्रथो का प्रकाशन हुआ है और कुछ वष पूव शिक्षा मत्रालय द्वारा आयोजित एक सवभाषा वज्ञानिक ग्रथ प्रदशनी से यह सिद्ध हो चुका है इन विषयो पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस सदभ म सबसे बडी उपलब्धि है नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश भाग १। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की हिंदी-समिति तथा बिहार की राष्ट्र भाषा परिषद् के भी अनक प्रकाशन अपने ढग से उपयोगी हैं। फिर भी अभाव तो मिटा नही है। वास्तव म हिंदी का यह अभाव इतना बडा है कि इसके लिए नियमित रूप स बडे पमाने पर—प्राय युद्ध स्तर पर—प्रयत्न अनिवाय है। यह बडे ही खद का विषय है कि अभी तक आलोचना ही अधिक हो रही है और निर्माण काय की गति अत्यत मथर है। वसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारो ने इस विषय में योजनाएँ बनाई हैं और थोडा-बहुत काय भी हो रहा है परन्तु आवश्यकता को देखते हुए पूर्ति नगण्य सी ही है। इस अप्रगति के अनेक कारण हैं। एक तो कारण यही है कि अभी अधिकाश क्षेत्रो म अंग्रेजी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी लेखको के लिए कोई प्रेरणा नही है। दूसरे इन विषयो म हिन्दी के समथ लेखक भी अनक नहीं हैं। तीसरे शासन और शिक्षा दोनो ही म देश के दुर्भाग्य से प्रमुख स्थान एस व्यक्तियो के अधिकार म हैं जिनका हिन्दी ज्ञान पर्याप्त नही है। इनम स सभी हिन्दी के विरोधी नही हैं। अनेक क मन मे हिन्दी के प्रति वास्तविक ममत्व है किन्तु प्रश्न तो वतमान परिस्थिति का है। चौथे, इसके अतिरिक्त एसे व्यक्तियो का भी अभाव नहीं है जिनके मन म स्वाथ वश, और कदाचित् सिद्धान्तवश भी हिन्दी के प्रति विद्वेष की भावना है। इन व्यक्तियो ने कुतकणा का एक चक्रव्यूह सा रच दिया है और उसकी आड मे अपनी हित रक्षा करना चाहते हैं—हिन्दी म अभीष्ट ग्रन्थो का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एव शासन का माध्यम नहीं बन सकता और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रो म नही होगा तब तक अभीष्ट ग्रन्थो का अभाव बना

रहेगा। यह स्थिति वास्तव म चिन्त्य है परन्तु हम निराश होने की आवश्यकता नही है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्दम प्रवाह को विपरीत दिशा मे मोडा नही जा सकता। इस दिशा म तुरन्त ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह काय कगार म पकडे हुए कुछ विद्वानों की सहायता से प्रकीर्ण प्रयत्नों द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान परिषद् की स्थापना अनिवार्य है।

अब रह जाता है सर्जनात्मक साहित्य—अथवा रस का साहित्य। साहित्य का यह अग प्रकृति से थोडा अदम्य होता है—वह न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओं म ही परिबद्ध हो सकता है। पर रसचेता कलाकार भी अपनी परिस्थिति स सवथा निरपेक्ष तो नही हो सकता—और फिर स्वतन्त्रता तथा विभाजन की परिस्थितिया तो असाधारण थीं। सन् १९४७ के उपरान्त देश म अनेक घटनाएँ ऐसी घटीं जिनका किसी भी सवेदनशील व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर गहरा प्रभाव पडना अनिवार्य था। सबसे पहले स्वतन्त्रता प्राप्ति की घटना ही एक भव्य घटना थी—देश के इतिहास मे ऐसी घटना शताब्दियो बाद घटी थी। भारत के कवि-कलाकार की युग युग से अपमानित अन्तरात्मा ने मुक्ति की सास ली। उसके मन म एक अभूतपूर्व आत्म विश्वास जगा। विश्व-कल्याण के जिन स्वप्नो को वह गांधी के और गांधी के पूर्वज ऋषियो के मत्र बल से दासता की अभिशप्त रात्रि म भी सँजोता रहा था, उनको पहली बार साथक करने का अवसर आया। भारत के सस्कृत हृदय ने बिना अहकार के, बिना किसी गर्व अथवा औद्धत्य के अपनी मुक्ति को अखिल विश्व की मुक्ति का प्रतीक माना। भारत के राजनीतिज्ञो न और कवियो ने एक स्वर से यह उद्घोष किया

भारत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र सभी जब हो।

जसे-जसे समय बीतता गया, भारतवर्ष की विश्व मैत्री की नीति अधिक स्पष्ट और भास्वर होती गई। इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वास्तव में इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका विकास कूटनीतिज्ञो की मत्रणाओं के आधार पर नही हुआ, रवीन्द्र और उनके अग्रज एव अनुज कवियो की आप्त वाणी के प्रभाव से ही हुआ है। उपनिषद् से लेकर छायावाद तक की भारतीय काव्य-परम्परा का पवित्र सम्बल उसे प्राप्त है। हिन्दी म इस विषय पर अनेक कवियो ने अनेक रचनाएँ की और उनम से अधिकाश का काव्यगुण नगण्य नहीं है। फिर भी इनम सबसे प्रबल स्वर पन्त, सियारामशरण,

भाषा के उपरात राजनीतिक दृष्टि से दूसरा प्रश्न सामने आया व्यवहार के साहित्य का। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी का यह अग निश्चय ही अविकसित था और अब भी है। कारण यह था कि इसके विकास का अवसर ही नही मिला। शासन और शिक्षा दोनो का माध्यम अंग्रेजी थी और इस प्रकार का समस्त ज्ञान साहित्य उसी म प्रस्तुत होता रहा। किंतु स्वतन्त्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनो ही क्षेत्रो म हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की माँग होने लगी। पिछले चौदह वर्षों म स्थिति म निश्चय ही सुधार हुआ है। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र म अनेक ग्रथो का प्रकाशन हुआ है और कुछ वर्ष पूर्व शिक्षा मत्रालय द्वारा आयोजित एक सवभाषा वैज्ञानिक ग्रथ प्रदर्शनी से यह सिद्ध हो चुका है इन विषयो पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस सदभ म सबसे बडी उपलब्धि है नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश भाग १। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की हिंदी-समिति तथा बिहार की राष्ट्र भाषा-परिषद् के भी अनक प्रकाशन अपने ढग से उपयोगी हैं। फिर भी अभाव तो मिटा नही है। वास्तव म हिन्दी का यह अभाव इतना बडा है कि इसके लिए नियमित रूप स बड पमाने पर—प्राय युद्ध-स्तर पर—प्रयत्न अनिवाय है। यह बडे ही खेद का विषय है कि अभी तक आलोचना ही अधिक हो रही है और निर्माण काय की गति अत्यत मथर है। वसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारो ने इस विषय में योजनाएँ बनाई हैं और थोडा-बहुत काय भी हो रहा है परन्तु आवश्यकता को देखत हुए पूर्ति नगण्य सी ही है। इस अप्रगति के अनेक कारण हैं। एक तो कारण यही है कि अभी अधिकाश क्षेत्रों म अँग्रेजी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी लेखको के लिए कोई प्ररणा नही है। दूसरे इन विषयो म हिन्दी के समथ लखक भी अनक नही हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोना हा म देश के दुर्भाग्य स प्रमुख स्थान एसे व्यक्तियो के अधिकार म हैं जिनका हिन्दी ज्ञान पर्याप्त नही है। इनम से सभी हिन्दी के विरोधी नही हैं। अनक के मन म हिन्दी क प्रति वास्तविक ममत्व है किन्तु प्रश्न तो वतमान परिस्थिति का है। चौथे, इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियो का भी अभाव नही है जिनके मन म स्वाथ वश, और कदाचित् सिद्धान्तवश भी हिन्दी के प्रति विद्वेष की भावना है। इन व्यक्तियो न कुतर्को का एक चक्रव्यूह-सा रच लिया है और उसकी आड मे अपनी हित रक्षा करना चाहते हैं—हिन्दी म अभीष्ट ग्रन्थो का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एव शासन का माध्यम नही बन सकती और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रो म नही होगा तब तक अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव बना

नवीन और दिनकर का हो रहा। पन्त और सियारामशरण में जहाँ देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उल्लास है, वहाँ नवीन और दिनकर म उसका सात्विक ओज है।

किन्तु स्वतन्त्रता का यह वरदान विभाजन के अभिशाप के साथ साथ आया। मुक्त आकाश म अरुणोदय हुआ ही था कि गृह कलह के बादल घिर आये। परतन्त्र राष्ट्र के उपचेतन की संचित विकृतियाँ अनायास ही उभर आइ और समस्त देश का वातावरण पाशव शक्तियों क अट्टहास स गूँज उठा। यह मानव चेतना की घोरतम विफलता क दिन थे, कि तु साहित्य म इसका प्रभाव सर्वथा नगण्य ही रहा। भारतीय साहित्य के पर्यवेक्षक का हृदय यह देखकर सदा ही एक मधुर गर्व से उत्फुल्ल हो उठेगा कि हिन्दी क एक भी उत्तरदायी साहित्यकार ने साम्प्रदायिक विद्वेष को प्रश्रय नही दिया। इस घटना स प्रेरित जो साहित्य आज उपलब्ध है—उसम तत्कालीन विक्षिप्त पशुता म मानव की शुद्ध बुद्ध *आत्मा का ही अनुसन्धान अनिवार्य रूप से मिलता है। इस प्रकार का* साहित्य परिमाण म अधिक नही रचा गया। भारत विभाजन और उसकी अनुवर्ती विभीषिकाओं की प्रतिध्वनि थोड़ी-सी कहानियों कुछेक एकांकियों और मुश्किल स दो चार उपन्यासो म ही मिलती है। हिन्दी के अधिकांश समर्थ कलाकारो ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

इस नर मेध की पूर्णाहुति हुई राष्ट्रपिता गाधी के बलिदान से। गाधी का यह बलिदान देश के सांस्कृतिक इतिहास म एक विराट घटना थी। रवीन्द्रनाथ ने महाकाव्य के विषय म लिखा है— 'इसी प्रकार मन म जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना राज्य पर अधिकार पा जाता है मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है तब उसके उन्नत भावो से उद्दीप्त होकर, उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने क लिए कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश मे रहती है और उसका शिखर मेघो को भेदकर आकाश मे उठता है। उस मन्दिर म जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देव भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणो से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों स आ आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।'

इस दृष्टि स हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास में गाधी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।

गांधीजी के जीवन मरण को लेकर हिन्दी में अनेक कविताएँ लिखी गईं। प्रमुख कवियों में पंत, सियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र और सुमन आदि ने व्यक्तिगत रूप से रचनाएँ की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्रायः इन्हीं कवियों ने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। परन्तु इनमें से अधिकांश कविताएँ विषय की गरिमा के उपयुक्त नहीं बन सकीं। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बड़े मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियाँ अपने प्रकृत रूप में नहीं वरन् संस्कार रूप में ही काव्य का विषय बन सकती हैं। प्रकृत रूप में उनका ऐन्द्रिय तत्त्व रसात्मक निर्वचन में बाधक होता है। गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए, जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है, अभी वह संस्कार नहीं बन पाया—सम्भव है वर्षों तक बन भी न पाए। इसलिए गांधी महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गांधीजी के जीवन-मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रहकर संस्कार बन जाएगी।

प्रस्तुत कालावधि में काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए (१) भारतवर्ष की सफल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-नीति (२) संत विनोबा का भूदान-आन्दोलन। तत्त्व रूप में इस देश के कवि के लिए ये कोई नये विषय नहीं हैं। नेहरू की शांति-नीति गांधी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और विनोबा का भूदान मन उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्यशास्त्र की दृष्टि में तीनों का स्थायी भाव एक ही है। नवीन जी तथा श्री सियारामशरण आदि ने इस विषय को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः एक ही प्रवृत्ति के अंग हैं—और वह प्रवृत्ति वही है जिसे हमने अपनी 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' पुस्तक में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य प्रवृत्ति वस्तुतः नई नहीं है वरन् स्वतन्त्रता से बहुत पहले से ही हमारे साहित्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतन्त्रता के उपरान्त इसके रूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु मूल तत्त्व वे ही रहे हैं। एक तो परतंत्र देश की वह अवरुद्ध हुंकार आज इसमें नहीं रही उसका स्थान स्वतंत्र राष्ट्र के आत्म विश्वास ने ले लिया है। दूसरे, अपने राजनीतिक संघर्ष का सफल अन्त हो जाने से अहिंसा में इसकी आस्था अत्यंत दृढ़ हो गई है। तीसरे,

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र म अपनी शांति नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व बंधुत्व के आदर्श वस्तु सत्य म परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार सन्देह असहयोग, प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यो का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के तामसिक गुण प्राय नि शेष हो गये हैं और शुद्ध सात्विक उत्साह उल्लास की परिवृद्धि हुई है। दूसरे शब्दो म यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व पृथक न रहकर बहुत-कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ ही घुल मिल गये हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की सवप्रमुख धारा यही है। वास्तव म स्वतन्त्रता पूव युग की तीन प्रवृत्तियाँ—ओज और उत्साह स अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति, सत्य चिंतन से अनुप्राणित सांस्कृतिक प्रवृत्ति और सौन्दर्य भावना से स्पून छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी म मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अभी वतमान काव्य की अंतश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समथ कवि अपनी अमतवाणी म इसका उद्गीथ करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कविवग है जो अभीष्ट संस्कारो के अभाव म परम्परा स पोषित आस्तिक मूल्यो को ग्रहण करने म असमथ है। निदान वह जीवन के उपयुक्त सांस्कृतिक मूल्यो के विरुद्ध प्रगति' अथवा प्रयोग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वग पिछड़ा नहीं है, और अपने ढग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। १९४७ से पूव जो प्रगति वादी थे उनमे से संस्कारशील कवियो ने सांस्कृतिक मूल्यो को स्वीकार कर लिया है किन्तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नहीं कर पाई वे या तो कभी-कभी देश के आर्थिक विधान के विरुद्ध बड़बड़ाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुण्ठाओं को काव्य म मूत करने का सफल असफल प्रयत्न करते हैं। मेरे आस्तिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कभी संधि नहीं कर सके—किंतु फिर भी वस्तु चिंतन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति मात्र नहीं है अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है भी तब भी, आज के जीवन म अस्वाभाविक नहीं है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नहीं है। वतमान उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परितोष नहीं कर रहा, वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नहीं हो पाई कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम से कम विकास प्रयत्नो से प्रेरणा ग्रहण कर सके संस्कार उसके इतने आस्तिक नहीं रह गये कि भावी की स्वस्थ कल्पना उसे परितोष

दे फने। अन्त में रह जाता है वह स्वय और आधुनिक प्रतिवादों द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुण्ठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अन्तरग व्याख्या है। यह काव्य प्रवृत्ति आज के जीवन म अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी, सत्य भी नही है, क्योंकि यह नास्ति पर आधृत है अस्ति पर नहीं।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की उपलब्धिया भी महत्त्वहीन नही हैं। हिन्दी-उपन्यास काफी सक्रिय रहा है यद्यपि आज हिन्दी उपन्यास की अधिकाश प्रवृत्तियो म प्राय स्वतन्त्रता पूव युग की विस्तृति ही मिलती है फिर भी कलात्मक स्तर का उचित सरक्षण हुआ है। प्रमचन्द की सामाजिक राजनीतिक उपन्यास परम्परा म अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र तथा सुहाग के नूपुर' का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। इस वग के अन्य ख्यातिलब्ध उपन्यासकारा मे भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क ने गुण तथा परिमाण दोनो की दृष्टि से महत्वपूर्ण काय किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र म अज्ञेय का 'नदी के द्वीप, इलाचन्द्र जोशी का जहाज का पछी और जैनेन्द्र की 'सुखदा' तथा 'जयवधन आदि रचनाएँ विशेषत उल्लेखनीय हैं यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनम स कोई भी कृति अपने रचयिता की पूव उपलब्धियों से श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वमा और यशपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। वर्मा जी की झासी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनों ही श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिन्दी म अपने वग की व अन्यतम विभूतियाँ हैं। और उधर यशपाल-कृत 'झूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासा म निश्चय ही सवश्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है आचलिक उपन्यास।—इस सदभ म रेणु ने 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा मे सफल प्रयोग किय हैं, यद्यपि अभी इन्हे प्रयोग से आगे सिद्धि मानना जल्दबाजी होगी।

हिन्दी नाटक अब रगमच क अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी नई प्रतिभाएँ उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने अग्रवर्ती नाटककारो—लक्ष्मीनारायण मिश्र उदयशकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि की अपेक्षा रगमच की विकासशील कला से अधिक घनिष्ठ एव जीवत सम्पर्क है। इस युग में सर्वाधिक विकास हुआ है आलोचना का। इसम सदेह नही कि आचाय शुक्ल की जसी मेधा का वरदान आज उसे प्राप्त नही है, किन्तु उनकी स्वस्थ परम्पराओ का पिछले १३ १४ वर्षों म समुचित विकास हुआ ह और अब भी

अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपनी शाति नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व बधुत्व के भावादर्श वस्तु-सत्य म परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार सन्देह असहयोग, प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के सात्विक मूल्यों का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद की राष्ट्रीय सास्कृतिक कविता के तामसिक गुण प्राय निर्दोष हो गये हैं और शुद्ध सात्विक उत्साह-उल्लास की परिवृद्धि हुई है। दूसरे शब्दो म यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व पृथक न रहकर बहुत-कुछ सास्कृतिक तत्त्वो के साथ हो घुल मिल गये हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव म स्वतत्रता पूर्व युग की तीन प्रवृत्तियाँ—ओज और उत्साह स अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति, गम्भीर चितन से अनुप्राणित सास्कृतिक प्रवृत्ति और सौंदर्य भावना से स्फूर्त छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी म मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अतश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहा तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतवाणी म इसका उद्गीथ करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक एसा कविवर्ग है जो अभीष्ट सस्कारों के अभाव मे परम्परा से पोषित आस्तिक मूल्यों को ग्रहण करने म असमर्थ है। निदान वह जीवन के उपयुक्त सास्कृतिक मूल्यो के विरुद्ध 'प्रगति' अथवा 'प्रयाग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछडा नही है, और अपने ढग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। १६४७ से पूर्व जो प्रगतिवादी थे उनम से सस्कारशील कवियो ने सास्कृतिक मूल्यो को स्वीकार कर लिया है, कि तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नही कर पाई, व या तो कभी-कभी देश के आर्थिक विधान के विरुद्ध बडबडाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुण्ठाओ को काव्य मे मूर्त करने का सफल असफल प्रयत्न करते है। मेरे आस्तिक सस्कार इस प्रकार की कविता से कभी सधि नही कर सके—किंतु फिर भी वस्तु चितन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति मात्र नहा है, अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है भी तब भी, आज के जीवन म अस्वाभाविक नही है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नही है। वर्तमान उसकी व्यक्तिगत आकाक्षाओं का परितोष नही कर रहा, वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नही हो पाई कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम स कम विकास प्रयत्नो से प्रेरणा ग्रहण कर सके, सस्कार उसके इतने आस्तिक नही रह गये कि भावी की स्वस्थ कल्पना उस परितोष

दे फके। अन्त में रह जाता है वह स्वय और आधुनिक प्रतिवादो द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुण्ठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अन्तरग व्याख्या है। यह काव्य प्रवृत्ति आज के जीवन म अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी, सत्य भी नही है, क्योंकि यह नास्ति पर आधृत है अस्ति पर नहीं।

साहित्य के अन्य क्षेत्रो की उपलब्धियाँ भी महत्त्वहीन नहीं हैं। हिन्दी-उपन्यास काफी सक्रिय रहा है यद्यपि आज हिन्दी उपन्यास की अधिकांश प्रवृत्तियों मे प्राय स्वतत्रता पूव युग की विस्तृति ही मिलती है फिर भी कलात्मक स्तर का उचित मरदाग हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक राजनीतिक उपन्यास-परम्परा म अमृतलाल नागर क 'बूँद और समुद्र' तथा 'सुहाग के नूपुर' का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। इस वग के अन्य ख्यातिलब्ध उपन्यासकारो में भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क ने गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काय किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र म अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पछी' और जैनेन्द्र की 'सुखदा' तथा 'जयवधन' आदि रचनाए विशेषत उल्लेखनीय हैं यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनम स कोई भी कृति अपने रचयिता की पूव उपलब्धियों से श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि स वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। वर्मा जी की 'झासी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनों ही श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिन्दी म अपने वग की वे अन्यतम विभूतियाँ हैं। और उधर यशपाल कृत 'झूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासो म निश्चय ही सवश्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है 'आचलिक उपन्यास'।—इस सन्दभ म रेणु ने 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा म सफल प्रयोग किये हैं, यद्यपि अभी इन्ह प्रयोग से आगे सिद्धि मानना जल्दबाजी होगी।

हिन्दी नाटक अब रगमच क अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी नई प्रतिमाएँ उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने अग्रवर्ती नाटककारो—लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि की अपेक्षा रगमच की विकासशील कला से अधिक घनिष्ठ एव अन्तरग सम्पर्क है। इस युग मे सर्वाधिक विकास हुआ है आलोचना का। इसमे सन्देह नहीं कि आचाय शुक्ल की जैसी मेधा का वरदान आज इस क्षेत्र को नहीं है किन्तु उनकी स्वस्थ परम्पराओं का पिछले १०-१४ वर्षों में समुचित विकास हुआ है और अब भी

हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र तथा सौ दय शास्त्र की नवीन पद्धतियो के सम्यक उपयोग से नवीन आलोचना प्रणालियो का भी आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एव पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तो का आख्यान पुनराख्यान भी द्रुत गति से चल रहा है स्वदेश विदेश के प्राय सभी आचार्यों के शास्त्र ग्रन्थ हिन्दी म सुलभ हैं और हिन्दी का काव्यशास्त्र आज भारतीय भाषाओ म सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन शोध के परिणाम-स्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश म आई है और हिन्दी क सिद्ध लेखक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास म उसका उचित उपयोग कर रहे हैं। यह इतिहास स्वय अपने आप म एक महान् अनुष्ठान है—इसक तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और चौदह पर काय हो रहा है। पूरा हो जाने पर लगभग दस हजार पृष्ठ का यह महाग्रथ विश्व का कदाचित् सबसे बडा साहित्यिक इतिहास होगा जिसे असख्य 'पुस्तक कीट' एकत्र होकर भी काटने म असमथ रहगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी उपेक्षणीय नही है। विभिन्न भारतीय भाषाओ क निकट सम्पक क फलस्वरूप तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन क लिए व्यापक क्षेत्र मिल गया है और भाषा वज्ञानिक सर्वेक्षण के द्वारा देश की अनेक बोलियो के अध्ययन की विस्तत योजनाओं पर काय हो रहा है।

अत म, हमारा निष्कष यह है कि स्वाधीन भारत म हिन्दी की प्रगति के दोना ही पहलू हैं। ज्ञान क साहित्य म जहाँ अभूतपूव उन्नति हुई है, वहाँ रस के साहित्य की सिद्धि अधिक स अधिक सतोष प्रद ही कही जा सकती है—उस पर गव करन का कोई विशेष कारण नही है। परन्तु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव म है भी नहीं—यह तो निर्माण काल है वरन् यह कहना चाहिए कि निर्माण का भी आरम्भ काल है। निर्माण और सृजन दोना म बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहाँ योजनाबद्ध, विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न साध्य कम है वहाँ सृजन अतस्फूर्त अयत्न साध्य क्रिया है जो न योजना म बाँधी जा सकती है और न हानि-लाभ क विवक से नियन्त्रित हो सकती है। हिन्दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओ मे सलग्न है जिनक परिणाम अपेक्षित अवधि क उपरात ही उपलब्ध होगे। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्याकन परिणाम क आधार पर नही, हमारे प्रयत्नों के आधार पर होना चाहिए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना के साथ मेरा सक्रिय सम्बन्ध रहा है। उस पर वार्ता करने के लिए आमन्त्रण देना मेरे साथ वैसा ही अन्याय है जैसा अभिनेता से दर्शक की तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा करना। और, फिर मुझे तो छद्मनाम की सुविधा भी प्राप्त नहीं है।

१९४७ के बाद का युग सृजन की अपेक्षा निर्माण का ही युग अधिक है। यह बात मैं कई बार कह चुका हूँ। आलोचना सर्जना है या रचना इस विषय में आलोचना के शैशव-काल में बड़ा विवाद रहा। मुझे याद है कि हमारे किसी परीक्षा पत्र में एक प्रश्न यह था कि आलोचना कला है या विज्ञान। मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने इसका क्या उत्तर दिया था परन्तु इस समय सहज ही एक समाधान मेरे मन में आया है—आलोचना कला का विज्ञान है। भारतीय शब्द साहित्य विद्या या साहित्य-शास्त्र का ठीक यही अर्थ है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि सर्जनात्मक साहित्य का अंग होते हुए भी आलोचना उस अर्थ में कला नहीं हो सकती जिस अर्थ में कविता, नाटक या उपन्यास। रस सृष्टि के लिए आवश्यक चित्त की समाहिति तो यहाँ भी अनिवार्य है किन्तु वह केवल परिणति की अवस्था है। प्रक्रिया में तो भावना और कल्पना की अपेक्षा चेतन मन का विवेक ही अधिक प्रबुद्ध रहता है। फिर भी सफल आलोचना का उद्भव रस में से होता है और उसका विलय भी रस में ही होना चाहिए अर्थात् जब तक आलोचक आलोच्य से रसार्द्र होकर अपनी विवेचना का प्रारम्भ नहीं करता और जब तक उसकी विवेचना सहृदय पाठक के मन में आलोच्य के प्रति रसोद्बोध नहीं करती तब तक वह सफल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रेरणा और सिद्धि की अवस्था में कला होते हुए भी अपनी साधनावस्था में आलोचना निश्चय ही शास्त्र है—दूसरे शब्दों में उसमें सृजन के साथ निर्माण का भी बहुत बड़ा योग है। इसीलिए निर्माण के इस दशक में हिन्दी आलोचना और अंगों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रही है।

हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र तथा सौ दय शास्त्र की नवीन पद्धतियो क सम्यक उपयोग से नवीन आलोचना प्रणालियो का भी आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एव पाश्चात्य का य सिद्धा तो का आख्यान पुनराख्यान भी द्रुत गति से चल रहा है, स्वदेश विदेश के प्राय सभी आचार्यों के शास्त्र ग्र य हि दी म सुलभ हैं और हि दी का काव्यशास्त्र आज भारतीय भाषाओ म सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन शोध के परिणाम-स्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश म आई है और हि दी के सिद्ध लखक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हि दी साहित्य का बृहद् इतिहास' म उसका उचित उपयोग कर रहे है। यह इतिहास स्वय अपने आप म एक महानु अनुष्ठान है—इसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और चौदह पर काय हो रहा है। पूरा हो जान पर लगभग दस हजार पृष्ठ का यह महाग्रथ विश्व का कदाचित् सबसे बडा साहित्यिक इतिहास होगा जिसे असख्य 'पुस्तक कीट' एकत्र होकर भी काटने म असमथ रहगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी उपेक्षणीय नही है। विभिन्न भारतीय भाषाओ के निकट सम्पर्क क फलस्वरूप तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र मिल गया है और भाषा वज्ञानिक सर्वेक्षणो के द्वारा देश की अनेक बोलियो क अध्ययन की विस्तृत योजनाओ पर काय हो रहा है।

अत मे, हमारा निष्कर्ष यह है कि स्वाधीन भारत म हि दी की प्रगति के दोना ही पहलू हैं। ज्ञान क साहित्य म जहाँ अभूतपूर्व उन्नति हुई है, वहा रस के साहित्य की सिद्धि अधिक से अधिक सतोष प्रद ही कही जा सकती है—उस पर गव करन का कोई विशेष कारण नही है। परतु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव म है भी नहीं—यह तो निर्माण काल है वरन् यह कहना चाहिए कि निर्माण का भी आरम्भ काल है। निर्माण और सृजन दोना म बाह्य समानता होन पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहा योजनाबद्ध, विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न साध्य कम है वहाँ सृजन अतस्फूर्त, अप्रयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना मे बाँधी जा सकती है और न हानि लाभ क विवेक से नियन्त्रित हो सकता है। हि दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओ म सलग्न है जिनक परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरात ही उपलब्ध होग। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्याकन परिणाम क आधार पर नही, हमारे प्रयत्नो क आधार पर होना चाहिए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना के साथ मेरा सक्रिय सम्बन्ध रहा है। उस पर वार्ता करने के लिए आमन्त्रण देना मेरे साथ वैसा ही अन्याय है जैसा अभिनेता से दर्शक की तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा करना। और, फिर मुझे तो छद्मनाम की सुविधा भी प्राप्त नहीं है।

१९४७ के बाद का युग सृजन की अपेक्षा निर्माण का ही युग अधिक है। यह बात मैं कई बार कह चुका हूँ। आलोचना सृजन है या रचना इस विषय में आलोचना के शैशव-काल में बड़ा विवाद रहा। मुझे याद है कि हमारे किसी परीक्षा पत्र में एक प्रश्न यह था कि आलोचना कला है या विज्ञान। मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने इसका क्या उत्तर दिया था परन्तु इस समय सहज ही एक समाधान मेरे मन में आया है—आलोचना कला का विज्ञान है। भारतीय शब्द साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र का ठीक यही अर्थ है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि सृजनात्मक साहित्य का अंग होते हुए भी आलोचना उस अर्थ में कला नहीं हो सकती जिस अर्थ में कविता नाटक या उपन्यास। रस सृष्टि के लिए भावस्थ चित्त की समाहिति तो यहाँ भी अनिवार्य है किन्तु वह केवल परिणति की अवस्था है। प्रक्रिया में तो भावना और कल्पना की अपेक्षा चेतन मन का विवेक ही अधिक प्रबुद्ध रहता है। फिर भी सफल आलोचना का उद्भव रस में से होता है और उसका निलय भी रस में ही होना चाहिए अर्थात् जब तक आलोचक आलोच्य से रसार्द्र होकर अपनी विवेचना का आरम्भ नहीं करता और जब तक उसकी विवेचना सहृदय पाठक के मन में आलोच्य के प्रति रसोद्बोध नहीं करती तब तक वह सफल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रेरणा और सिद्धि की अवस्था में कला होते हुए भी अपनी साधनावस्था में आलोचना निश्चय ही शास्त्र है—दूसरे शब्दों में उसमें सृजन के साथ निर्माण का भी बहुत बड़ा योग है। इसीलिए निर्माण के इस दशक में हिन्दी आलोचना और अंगों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रही है।

सन् ४७ के बाद की हिन्दी आलोचना सामान्यत शुक्लोत्तर आलोचना का विस्तार है—शुक्लजी के बाद हिन्दी म आलोचना की अनेक प्रवृत्तियाँ उभरकर आइ। (१) शास्त्रीय आलोचना जिसे शुक्लजी से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त थी, (२) सौष्ठववादी आलोचना जिसने शुक्लजी द्वारा प्रभावित होने पर भी जीवन के प्रति स्वाभी मूल्यो और स्वच्छ द दृष्टिकोण को अधिक आग्रह के साथ ग्रहण किया, (३) मनोवैज्ञानिक आलोचना जो साहित्य को व्यक्तिगत प्रक्रिया मानकर कवि मानस के विश्लेषण द्वारा कृति का विवेचन करती थी, (४) समाजशास्त्रीय आलोचना जो समाजवादी जीवन दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर सामाजिक चेतना के विकास को साहित्य का लक्ष्य मानती थी, (५) ऐतिहासिक आलोचना जो सास्कृतिक सामाजिक परिवेश म साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करती थी, (६) सैद्धान्तिक आलोचना जिसका साध्य था भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धातो का विवेचन और (७) शोधपरक आलोचना जिसके अतगत हिन्दी के प्राचीन एव नवीन साहित्य की तथ्य परक एव तत्त्व परक शोध हो रही थी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त ये सभी प्रवृत्तियाँ समान रूप से सक्रिय नही रह सकी। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तगत विशेष काय नही हुआ। केवल एक शोध ग्रन्थ 'आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान' हमारे सामने आया। इसके लेखक डा० देवराज उपाध्याय हिन्दी के परिचित सुलेखक हैं। उन्होने अतिवादो को बचाते हुए काफी सुथरे ढग स हिन्दी के कथा साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मनोविज्ञान की शब्दावली मे लेखक ने गेस्टाल्ट पद्धति का अवलम्बन किया है जिसम शाखाओ की अपेक्षा मूल का ग्रहण रहता है अर्थात् व्यक्तित्व का खडश नही वरन् समग्र रूप मे विश्लेषण रहता है। डा० देवराज की दृष्टि सवथा निर्भ्रान्त तो नही कही जा सकती—कही कही उन्होने सिद्धान्तो का मिथ्यारोपण भी कर दिया है और अनेक स्थानों पर पाश्चात्य कथा साहित्य का उल्लेख आवश्यकता से अधिक हो गया है। फिर भी हिन्दी म नियमित रूप स मनोवैज्ञानिक आलोचना का यह अच्छा ग्रन्थ है।

मनोविश्लेषण शास्त्र का अवलम्ब ग्रहण करने वाले लेखको म श्री इलाचन्द्र की कृति देखा परखा उल्लेखनीय है। इलाचन्द्रजी के विश्लेषण म पर्याप्त गहनता रहती है और वे पूर्वाग्रह स मुक्त रहकर प्रबल शब्दो म अपना मत अभिव्यक्त कर सकते हैं। उनकी दृष्टि म अतप्रवेश की क्षमता जितनी है, उतना स्वच्छता नहीं है—स्रष्टा कलाकार की ताजगी जितनी रहती है आलोचक का बौद्धिक अनुशासन उतना नहीं रहता। इस वग के अन्य आलोचक

श्री अज्ञेय अपने में इतने डूब गए हैं कि उनके नवीन आलोचनात्मक लेखों में विषय का वस्तुगत विवेचन नहीं मिलता वरन् उनके अपने मन की जटिल क्रिया प्रतिक्रियाओं का आलेखन मात्र ही होता है। सब मिलाकर आलोचना की इस उपयोगी प्रणाली का जैसा विकास होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि हिन्दी में मनोविज्ञान का व्युत्पन्न लेखक नई धारा प्रयोगवाद की ओर मुड गया है। प्रयोगवाद में व्यक्ति तत्त्व का अतिशय प्राधान्य है और स्वभावत मनोविज्ञान का सम्बल उसके लिए अनिवार्य है। प्रयोगवाद के कतिपय नवीन लेखकों के पास अतमन में प्रवेश करने की क्षमता असंदिग्ध है परन्तु अपने साहित्यिक पूर्वाग्रहों के कारण वे लेखक स्वस्थ सतुलित दृष्टि से मानव मन का समग्र रूप में विश्लेषण करने के स्थान पर उसकी निविडताओं में उलझन का प्रयत्न अधिक करते हैं। अतिव्यक्तिवादी होने के कारण यह साहित्य मूल को छोड़कर शाखाओं पर ही केन्द्रस्थ हो जाता है—पूर्ण व्यक्तित्व की उपेक्षा कर उसकी खण्ड प्रवृत्तियों में ही खो जाता है। परिणामत इस नई आलोचना में प्रतिभा के ज्योतिस्पश तो प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं किन्तु किसी समग्र जीवन दर्शन और उस पर आश्रित साहित्य दर्शन के अभाव में यह आलोचना साहित्य का खण्ड विश्लेषण ही प्रस्तुत कर पाती है। श्री नलिन विलोचन शर्मा, डा० धर्मवीर भारती, श्री गिरिजाकुमार माथुर, डा० रघुवंश आदि के आलोचनात्मक लेखों में उपयुक्त गुण और दोष स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। इस नए साहित्य के साथ विदेश के एक नवीन जीवन-दर्शन अस्तित्ववाद का नाम भी जाने अनजाने सम्बद्ध किया जा रहा है। अस्तित्ववाद के सबसे समर्थ प्रतिपादक हैं फ्रासीसी विचारक सार्त्र जिन्होंने किर्केगार्द से प्रेरणा प्राप्त कर इस शताब्दी के तीसरे चौथे दशाब्द में इस नवीन जीवन-दर्शन को दर्शन और साहित्य दोनों के क्षेत्र में प्रतिफलित किया है। इस दर्शन का मूल आधार है—मानव अस्तित्व जो जीवन का निरपेक्ष और एकमात्र सत्य है। इसका सूत्र है 'अस्तित्व का आविर्भाव प्रयोजन से पहले होता है'—अत अस्तित्व ही प्रमाण है। प्रयोजन, प्रेरणा आदि महत्तर तत्त्वों का निषेध करने वाला यह जीवन-दर्शन वस्तुत अनास्था का ही दर्शन है—उच्चतर प्रेरणा के अभाव में, ईश्वर और धर्म के किसी रूप की स्वीकृति से वंचित केवल अस्तित्व की ही सिद्धि मानकर चलने वाला जीवन अपने में खोया हुआ और विपण्ण बनकर रह जाता है। यह जीवन-दर्शन स्वभावत अति व्यक्तिवादी और नास्तिक जीवन-दर्शन है, जो काव्य में कुण्ठा और विचार में निराशा का पोषण करता है।

सन् ४७ के बाद की हि
विस्तार है—शुक्लजी के बाद
गई। (१) शास्त्रीय आलोच
(२) सौष्ठववादी आलोचना जि
के आनन्दवादी मूल्यों और स्व
किया, (३) मनोवैज्ञानिक आलो
कवि मानस के विश्लेषण द्वारा
आलोचना जो समाजवादी जीव
व विकास को साहित्य का तथ्य
सांस्कृतिक सामाजिक परिवेश म
(६) सैद्धांतिक आलोचना जिस
सिद्धांतों का विवेचन, और (७)
प्राचीन एवं नवीन साहित्य को तट

स्वतंत्रता के उपरांत ये सभी
सकी। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञा
हुआ। केवल एक शोध ग्रंथ 'आधु
सामने आया। इसके लेखक डा० दे
हैं। उन्होंने अतिवादों को बचाते हुए
का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत
लेखक ने गेस्टाल्ट पद्धति का अवलम्ब
का ग्रहण रहता है अर्थात् व्यक्तित्व
विश्लेषण रहता है। डा० देवराज की
सकती—कहीं कहीं उन्होंने सिद्धांतों
अनेक स्थलों पर पाश्चात्य कथा सा
गया है। फिर भी हिंदी में नियं
यह अच्छा ग्रंथ है।

मनोविश्लेषण शास्त्र का अवलम्ब
की कृति 'देवा परखा' उल्लेखनीय है
गहनता रहती है और वे पूर्वाग्रह
अभिव्यक्त कर सकते हैं। उनकी दृ
उतनी स्वच्छता नहीं है—स्रष्टा क
आलोचक का बौद्धिक अनुशासन उतन

ही बातें प्राय वसी ही अप्रामाणिक भाषा मे दोहरायी गई हैं। डा० शर्मा का दुर्भाग्य यह है कि उनकी दृष्टि मूलत राजनीतिक है साहित्यिक नहीं। वे न केवल राजनीतिक मूल्यों को ही वरन् राजनीतिक रीति नीति और निम्न स्तर की राजनीतिक भाषा को भी साहित्य मे यथावत् ग्रहण करते हैं। उनकी अपेक्षा डा० रागेय राघव की दृष्टि अधिक साहित्यिक है। स्वय स्रष्टा कलाकार होने के नाते वे साहित्य के मम से अभिन्न हैं और इसीलिए अपनी आलोचना मे उन्होने साहित्य की आत्मा को प्राय अक्षुण्ण रखा है। प्रगतिवाद का गम्भीर अन्वेता कदाचित् चौहान और उनके ग्रन्थो पर अधिक निभर करेगा। इस वग के अन्य आलोचक श्री प्रकाशचन्द गुप्त भी मार्क्सवादी प्रतिमानो के आधार पर नवीनतम साहित्य का सिंहावलोकन करते रहे हैं, इधर नए आलोचको म डा० नामवरसिंह सबसे अधिक प्राणवान हैं।

ऐतिहासिक आलोचना के समथ प्रतिनिधि हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। स्वतन्त्रता के पूव और उसके पश्चात् भी इस क्षेत्र मे उनका ही योगदान प्रमुख है। द्विवेदीजी साहित्य को व्यापक, सास्कृतिक जीवन का अग मानकर चलते हैं। आचाय शुक्लजी जहाँ साहित्य को केवल शिक्षित समुदाय के सास्कृतिक जीवन से सम्बद्ध कर देखते थे, वहाँ द्विवेदीजी समस्त जन समुदाय के सास्कृतिक जीवन के साथ उसका अतरग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार साहित्य का आधार फलक अत्यन्त विस्तृत हो जाता है, परन्तु उसको सँभालने योग्य पाण्डित्य और व्यापक मानववादी मूल्यो म अटूट आस्था का सम्बल उन्ह प्राप्त है। स्वत त्रता के उपरात इस विषय पर उनकी दो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं (१) नाथसम्प्रदाय (२) हिन्दी साहित्य का आदिकाल। इसम सन्देह नहीं कि यह उदार दृष्टि अपने आपमें अत्यन्त श्लाघ्य है परन्तु मेरा मन इसके प्रति सवथा निश्चय नहीं हो पाता सावजनिक जीवन की सम्पूण वाङमयी अभिव्यक्ति साहित्य कसे मानी जा सकती है?—इस प्रकार की उदार दृष्टि साहित्य और असाहित्य के भेद को नहीं देख पाती, अत्यधिक विस्तार के मोह म सूक्ष्म-दशन की शक्ति खो बठना अधिक श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। मैं इसे प्रस्तुत आलोचना-पद्धति की विशेष परिसीमा मानता हूँ। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनेक ग्रथ अन्तत तथा डा० सत्येन्द्र का शोध प्रबन्ध 'ब्रज-लोक साहित्य का अध्ययन' इसी वग के अतगत आते हैं। इधर 'आलोचना' के विशेषाक म प्रकाशित कतिपय लेख भी नये ढग की ऐतिहासिक आलोचना के सुन्दर उदाहरण थे।

अब स्वतन्त्रता-पूव आलोचना की चार अन्य शलियाँ शेष रह जाती हैं

स्वतन्त्रता-पूर्व युग में आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी अथवा समाज शास्त्रीय आलोचना का बड़ा जोर था। भारतीय राजनीति में समाजवाद के प्रचार के साथ भारतीय साहित्य में भी समाजवादी दर्शन का प्रभाव बढ़ रहा था। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा आलोचना में यह प्रभाव अधिक सक्रिय रहा क्योंकि मार्क्सवादी जीवन दर्शन भी तो अनुभूतिपरक अथवा दर्शनपरक न होकर मूलतः बुद्धिपरक था आलोचनात्मक ही रहा। हिन्दी में समाजवादी आलोचना का प्रमुख योगदान था—कल्याणवादी मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा। साहित्य में आनन्दवादी मूल्यों और कल्याणवादी मूल्यों में जाने अनजाने एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा सी चलती रहती है। द्विवेदी युग में जिस प्रकार रीतिकाल के अतिशय रसवादी मूल्यों की प्रतिक्रिया में लोकमंगल का आग्रह सहसा प्रबल हो उठा था, उसी प्रकार १९३७ के बाद छायावाद की अन्तर्मुखी रसदृष्टि के विरुद्ध प्रगतिवादी आलोचकों ने बहिर्मुखी लोकदृष्टि का साग्रह उन्मेष किया। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के अपकर्ष काल में कल्पना विलास के अन्तर्गत काव्य की स्वस्थ लोकमंगल भावना बहुत कुछ विलीन सी होने लगी थी और हिन्दी कविता को स्वप्न से सत्य की ओर आकृष्ट करने की बड़ी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रगतिवाद ने अवश्य की। किन्तु प्रगतिवाद की सत्य विषयक धारणा एकांगी और अपूर्ण ही रही और उसी अनुपात से उसकी कल्याण भावना भी। प्रगतिवाद के लिए सत्य केवल पदार्थ में सीमित रह गया और कल्याण केवल भौतिक सुख स्वास्थ्य का ही वाचक बनकर रह गया। फलतः एक अतिवाद का निराकरण करने में उसने दूसरे अतिवाद का प्रसार एवं प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उसने काव्येतर बहिरंग मूल्यों का आरोप इतनी हठधर्मिता के साथ किया कि काव्य का मूलधर्म ही बाधित हो गया। सन् ४७ के बाद प्रगतिवादी आलोचना सक्रिय तो रही किन्तु इसका तेज मानो किसी ने छीन लिया। उसके आरम्भिक उत्साह का परिपाक जिस स्वस्थ प्रौढ़ रूप में होना चाहिए था वह नहीं हो पाया।

शिवदानसिंह चौहान 'आलोचना' से हटते ही साहित्य के सक्रिय क्षेत्र से कुछ दूर से हो गए। उनकी पहली कृति 'प्रगतिवाद' का अधिकांश स्वतन्त्रता पूर्व की रचना है—बाद की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष' स्वतन्त्र आलोचना कृति की अपेक्षा पाठ्य ग्रंथ ही अधिक है। डा० रामविलास शर्मा उनकी अपेक्षा अधिक सक्रिय रहे हैं—'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' आदि उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से बहुत से लेख तो ४७ के पहले के हैं और जो नए हैं उनमें भी प्रकारान्तर से घूमकर वे

अन्तगत साहित्य के वस्तु तत्त्व और कला-तत्त्व दोनो का अध्ययन अनेक शास्त्रों के प्रकाश म किया जा रहा है, वस्तु-तत्त्व से सम्बद्ध शास्त्र हैं दशन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि, और कला तत्त्व के सहायक शास्त्र हैं काव्यशास्त्र और सौन्दयशास्त्र आदि। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियो के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, रसशास्त्रीय अध्ययन और उधर साहित्य विधाओं के सौन्दय शास्त्रीय अध्ययन अर्थात् उनके कला रूपों के सौन्दय-तत्त्वों का अध्ययन, शास्त्रीय अनुसधान के अतगत आते हैं। तीसरा वर्गीकरण पद्धतिमूलक भी हो सकता है, पद्धतियाँ सामान्यत तीन हैं—एतिहासिक, शास्त्रीय और वज्ञानिक। एतिहासिक पद्धति म प्राधान्य रहता है परिवेश एव परम्परा का और इसका मूलवर्ती दृष्टिकोण विश्लेषात्मक तथा व्यक्तिपरक न होकर सश्लेषात्मक एव सामासिक होता है। शास्त्रीय पद्धति का आधार है शास्त्र जिसम विश्लेषण प्रमुख रहता है, अनुसधाता की दृष्टि सिद्धात के प्रकाश मे वस्तु और रूप का निरीक्षण परीक्षण करती है। वज्ञानिक पद्धति सामान्यत अनुसधान के सभी रूपो को बीधती हुई अपने वस्तुगत तथ्यग्राही दृष्टिकोण के कारण शेष दो से भिन्न हो जाती है—शास्त्रीय पद्धति से भिन्न यह निगमन की अपेक्षा अनुगमन का ही अवलब लेती है और सांख्यिकी की विधियो तथा उपायो पर बहुत कुछ निभर करती है।

हिन्दी म अनुसधान की प्राय य सभी प्रवत्तियाँ पद्धतियाँ लक्षित होती हैं और सभी पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। अब तक लगभग २५० शोधप्रबन्धो पर उपाधि प्रदान की जा चुकी है जिनम से आधे प्रकाशित हो चुके हैं और ५०० से भी अधिक विद्यार्थी विधिवत् अनुसधान कर रहे हैं। ये तथ्य केवल परिमाण की दृष्टि स ही किसी भी भाषा के विद्वान को चौंकाने के लिए पर्याप्त हैं। इसम सन्देह नही कि ये सभी ग्रन्थ आदश शोध के निदशन नही हैं—इनमे ऐसे ग्रथों की बहुत बडी सख्या है जो तथ्य शोध और तत्त्व शोध दोनो की दृष्टि स अपूर्ण हैं। परन्तु इसमें ऐसे प्रबन्धो की सख्या भी कम नहीं है, जिनका योगदान विद्या की वद्धि मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य के विभिन्न अग उपागो से सम्बद्ध पुष्कल सामग्री प्रकाश म आई है और उनका सर्वांग मथन हुआ है। ज्ञानराशि का एक विशाल सागर हिन्दी के विद्यार्थी के सामने आज लहरा उठा है।

विशेषकर 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धात', आदि इस दिशा मे उपयोगी प्रयास हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र का आदि ग्रथ 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', लाजाइनस के 'दि सब्लाइम' होरेस की 'आर्स पोएटिका' के हिन्दी अनुवाद और 'पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा' नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के सिद्धान्त वाक्यो के सकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र म गत १३ १४ वर्षों मे अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज का आलोचक केवल विवरण पढकर अथवा सदभ ग्रथों के आश्रय स संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धान्तो की चर्चा नही करता, उसका आधार पुष्ट और ज्ञान प्रामाणिक होता है। शुक्लजी के युग म यह सुलभ नही था। उदाहरण के लिए स्वय शुक्लजी के निबन्ध काव्य म अभिव्यजनावाद' को पढकर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने न क्रोचे को धय पूर्वक पढा है और न 'वक्रोक्तिजीवित का प्रामाणिक सस्करण ही उन्हें उपलब्ध था। आज का हिन्दी आलोचक इस अभाव से पीडित नही है।

शोधपरक आलोचना और भी अधिक सक्रिय रही है। हिन्दी मे शोध काय का आरम्भ जितनी मथर गति से हुआ था उसके विकास म उतनी ही त्वरा आ गई है और गत दशक म उसके परिमाण एव क्षेत्र दोनो का विस्तार स्वय ही अनुसधान का विषय बन गया है। तत्त्व दृष्टि से हिन्दी अनुसधान की दो प्रमुख प्रवृत्तिया हैं—(१) तथ्य परक और (२) तत्त्व परक, जो क्रमश सफल अनु सधान के दो अनुबधों अर्थात् 'अनुपलब्ध तथ्यो का अन्वेषण' तथा उपलब्ध तथ्यो का नवीन आख्यान' के ही प्रोद्भास हैं। तथ्य दृष्टि से हिन्दी अनुसधान मे अनेक प्रवृत्तियो का आकलन किया जा सकता है, सबसे पहले तो हम दो व्यापक वग बना सकते हैं—भाषाविज्ञान सम्बन्धी शोध और साहित्य विषयक शोध। इसके उपरान्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र म जहाँ विभिन्न धाराओ का अनु सधान किया जा सकता है वहाँ साहित्य के क्षेत्र म भी अनेक अन प्रवृत्तिया का उद्घाटन सहज सम्भव है। इस क्षेत्र म तीन आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं—ऐतिहासिक, वयक्तिक और शास्त्रीय। ऐतिहासिक अनुसधान के अतगत एक ओर हिन्दी साहित्य के किसी काल-खण्ड का ऐतिहासिक विवेचन मिलता है, तो दूसरी ओर किसी साहित्य विधा या साहित्य सम्प्रदाय अथवा साहित्य धारा की परम्परा का भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे विवेचन किया जा रहा है—और साथ ही सास्कृतिक तथा सामाजिक राजनीतिक परिवेश का भी अध्ययन हो रहा है। वयक्तिक अनुसधान से अभिप्राय है कवि-लेखकों का स्वतन्त्र शोधपरक अध्ययन—सामान्य लेखकों का अध्ययन सर्वांग होता है, महान् कवि लेखकों के एक एक अग को लेकर भी अनुसधान होता है। शास्त्रीय अनुसधान की परिधि व्यापक है, उसके

अन्तगत साहित्य के वस्तु तत्त्व और कला-तत्त्व दोनो का अध्ययन अनेक शास्त्रों के प्रकाश म किया जा रहा है, वस्तु-तत्त्व से सम्बद्ध शास्त्र हैं दशन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि, और कला-तत्त्व के सहायक शास्त्र हैं काव्यशास्त्र और सौन्दयशास्त्र आदि। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियो के दाशनिक, मनोवज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, रसशास्त्रीय अध्ययन और उधर साहित्य विधाओ के सौन्दय शास्त्रीय अध्ययन अर्थात् उनके कला रूपों के सौन्दय-तत्त्वो का अध्ययन, शास्त्रीय अनुसधान के अतगत आते हैं। तीसरा वर्गीकरण पद्धतिमूलक भी हो सकता है, पद्धतियाँ सामायत तीन हैं—ऐतिहासिक, शास्त्रीय और वज्ञानिक। ऐतिहासिक पद्धति म प्राधाय रहता है परिवेश एव परम्परा का और इसका मूलवर्ती दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक तथा व्यक्तिपरक न होकर सश्लेषणात्मक एव सामासिक होता है। शास्त्रीय पद्धति का आधार है शास्त्र जिसम विश्लेषण प्रमुख रहता है अनुसधाता की दृष्टि सिद्धात के प्रकाश म वस्तु और रूप का निरीक्षण परीक्षण करती है। वज्ञानिक पद्धति सामा यत अनुसधान के सभी रूपो को बाँधती हुई *अपने वस्तुगत तथ्यग्राही दृष्टिकोण के कारण शेष दो से भिन्न हो* जाती है—शास्त्रीय पद्धति से भिन्न यह निगमन की अपेक्षा अनुगमन का ही अवलब लेती है और साख्यिकी की विधियो तथा उपाया पर बहुत कुछ निभर करती है।

हिन्दी म अनुसधान की प्राय ये सभी प्रवत्तियाँ पद्धतिया लक्षित होती हैं और सभी पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। अब तक लगभग २५० शोधप्रबन्धो पर उपाधि प्रदान की जा चुकी है जिनम से आध प्रकाशित हो चुके हैं और ५०० से भी अधिक विद्यार्थी विधिवत् अनुसधान कर रहे हैं। ये तथ्य केवल परिमाण की दृष्टि स ही किसी भी भाषा के विद्वान को चौंकाने के लिए पर्याप्त हैं। इसमे सन्देह नही कि ये सभी ग्रन्थ आदश शोध के निदशन नही हैं—इनम ऐसे ग्रंथों की बहुत बडी सख्या है जा तथ्य शोध और तत्त्व शोध दोनो की दृष्टि से अपूर्ण हैं। परन्तु इसम ऐसे प्रबन्धों की सख्या भी कम नहीं है, जिनका योगदान विद्या की वृद्धि मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य के विभिन्न अग उपागो से सम्बद्ध पुष्कल सामग्री प्रकाश म आई है और उनका सर्वांग मथन हुआ है। ज्ञानराशि का एक विशाल सागर हिन्दी के विद्यार्थी के सामने आज लहरा उठा है।

विशेषकर 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त', आदि इस दिशा में उपयोगी प्रयास हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र का ज्ञान प्रदान करने में 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', लांजाइनस के 'उदात्त तत्व', होरेस की 'आर्स पोएटिका' के हिन्दी अनुवाद और 'पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा' नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के सिद्धान्त वाक्यों के सकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में गत १३-१४ वर्षों में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज का आलोचक केवल विवरण पढ़कर अथवा सन्दर्भ ग्रन्थों के आश्रय से संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धान्तों की चर्चा नहीं करता, उसका आधार पुष्ट और ज्ञान प्रामाणिक होता है। शुक्लजी के युग में यह सुलभ नहीं था। उदाहरण के लिए स्वयं शुक्लजी के निबन्ध 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने न क्रोचे को धैर्य पूर्वक पढ़ा है और न 'वक्रोक्तिजीवित' का प्रामाणिक संस्करण ही उन्हें उपलब्ध था। आज का हिन्दी आलोचक इस अभाव से पीड़ित नहीं है।

शोधपरक आलोचना और भी अधिक सक्रिय रही है। हिन्दी में शोध-कार्य का आरम्भ जितनी मंथर गति से हुआ था, उसके विकास में उतनी ही त्वरा आ गई है और गत दशक में उसके परिमाण एवं क्षेत्र दोनों का विस्तार स्वयं ही अनुसंधान का विषय बन गया है। तत्त्व दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—(१) तथ्य परक और (२) तत्त्व-परक, जो क्रमशः सफल अनुसंधान के दो अनुबंधों अर्थात् 'अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण' तथा 'उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान' के ही प्रोद्भास हैं। तथ्य दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान में अनेक प्रवृत्तियों का आकलन किया जा सकता है, सबसे पहले तो हम दो व्यापक वर्ग बना सकते हैं—भाषाविज्ञान सम्बन्धी शोध और साहित्य विषयक शोध। इनके उपरान्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जहाँ विभिन्न धाराओं का अनुसंधान किया जा सकता है वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक अन्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन सहज सम्भव है। इस क्षेत्र में तीन आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं—ऐतिहासिक, वैयक्तिक और शास्त्रीय। ऐतिहासिक अनुसंधान के अन्तर्गत एक ओर हिन्दी साहित्य के किसी काल-खण्ड का ऐतिहासिक विवेचन मिलता है, तो दूसरी ओर किसी साहित्य विधा या साहित्य सम्प्रदाय अथवा साहित्य धारा की परम्परा का भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है—और साथ ही सांस्कृतिक तथा सामाजिक राजनीतिक परिवेश का भी अध्ययन हो रहा है। वैयक्तिक अनुसंधान से अभिप्राय है कवि लेखकों का स्वतन्त्र शोधपरक अध्ययन—सामान्य लेखकों का अध्ययन सर्वांग होता है महान् कवि लेखकों के एक-एक अंग को लेकर भी अनुसंधान होता है। शास्त्रीय अनुसंधान की परिधि व्यापक है, उसके

कल्पना आप सहज ही कर सकते हैं। जनसंख्या की वृद्धि के समान शोधार्थी-संख्या की वृद्धि का नियन्त्रण भी आवश्यक है। किन्तु यह नियन्त्रण आयोजन के रूप म ही होना चाहिये, दमन के रूप म नही। जहाँ तक विषयों का प्रश्न है, इसमे सदेह नही कि उनकी संख्या अनन्त नहीं हो सकती किन्तु हिंदी साहित्य का विस्तार काल और काय दोनो की दृष्टि से इतना अधिक है कि अभी तक निराश होने की कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। अभी तक राजस्थान, ब्रज, पजाब और अवध के क्षेत्र म इतना प्रचुर साहित्य अज्ञात पडा हुआ है कि सकडो अनुसधाताओ का श्रम उसम सफल हो सकता है। इस अभाव-पूर्ति का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है अत साहित्यिक विषयो का चयन। अत साहित्यिक से मेरा आशय ऐसे विषयो म है जिन पर भारत के विभिन्न साहित्यों म परस्पर सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध है। हमारे प्राचीन और नवीन साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनका भिन्न भिन्न भारतीय भाषाओ में समान रूप स विकास हुआ है और यह साम्य अनेक प्रकार का है कहीं मूल स्रोत का साम्य है, कहीं विकास की सरणियाँ समान हैं, तो कहीं कहीं परस्पर आदान प्रदान मिलता है—ये तथ्य अत्यन्त मूल्यवान् हैं सत्य की शोध के लिये सामान्य रूप से और भारत की सांस्कृतिक परम्परा एव उसकी मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसधान हिन्दी शोध के इतिहास म एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा।

इसी प्रसग स सम्बद्ध पुनरावृत्ति की समस्या भी है हिन्दी शोध के क्षेत्र म यह शिकायत बार-बार सुनने म आती है कि भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों म एक से विषयो पर अनुसधान हो रहा है जिससे श्रम का अपव्यय और स्तर का ह्रास हो रहा है। इस तथ्य म सत्य का अश है, इसम सन्देह नहीं—किन्तु उचित आयोजन से इस दोष का परिहार हो सकता है। कई स्थानो पर एक ही विषय पर शोध होना अपने आप म दोष नही है यह विषय पर निर्भर है। यदि विषय की परिधि सीमित है तो पुनरावृत्ति की आशका हो सकती है, अन्यथा व्यापक विषयो पर तो शोध के लिए अनन्त अवकाश है—सत्य के अनेक पहलुओ का उद्घाटन भी ज्ञान के विस्तार म अमूल्य योगदान करता है। इस दिशा मे शोध संस्थानो के काय को आयोजित और समजित करने की आवश्यकता है—जो विश्वविद्यालय-स्तर पर या विभागीय स्तर पर और भी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का दोष गुण बन जाएगा, एक ही विषय के अनेक पक्षों का उद्घाटन होगा और विवेचन म गभीरता और सूक्ष्मता आएगी। दूसरा प्रश्न निरीक्षकों का है। यह प्रश्न निश्चय ही

हिंदी में शोध की कुछ समस्याएँ

हिन्दी मे शोध की सबसे प्रमुख समस्या है शोधार्थियों की वर्तमान संख्या की। अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय मे पधारे थे। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपनी भाषा और साहित्य की प्रगति का वर्णन किया। काफी देर तक आदरपूर्वक सुनने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपके साहित्य मे सभी विश्वविद्यालयों को मिलाकर कितने विद्यार्थी एम० ए० की परीक्षा मे बैठते हैं और अनुसंधाताओं की कुल संख्या कितनी है? उन्होंने बड़े गर्व से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया कोई तीस चालीस छात्र एम० ए० मे बैठते हैं और शोधार्थियों की संख्या आठ दस जरूर होगी। विद्वान् मित्र ने फिर यही प्रश्न मुझसे किया। मैंने कहा कि आप विश्वास कर सकें तो अपनी दोनों संख्याओं को कम से कम ५० से गुणा कर दीजिये। यह वर्धमान संख्या हमारे लिए यदि गर्व का कारण नहीं है तो कम-से कम चिंता का कारण भी नहीं है। किन्तु यह एक समस्या अवश्य है जो समाधान की अपेक्षा करती है। सबसे पहले तो विषयों की समस्या खड़ी होती है—नित्य नवीन अनुसंधेय विषय भी तो असंख्य नहीं हो सकते। अनुसंधेय विषय से मेरा यह अभिप्राय है कि उस विषय की परिधि के भीतर तथ्य शोध और तत्त्व बोध दोनों के लिये ही वांछित अवकाश हो पुनरावृत्ति न होने पाये और साथ ही उसके परिणाम भी ज्ञानवर्धक हों। दूसरी सम्बद्ध समस्या है निरीक्षकों की। इतने निरीक्षक कहाँ से आएँ? संख्या की यह वृद्धि जिस वेग से हो रही है पूर्ति के साधन उसके अनुपात मे अत्यन्त अपर्याप्त हैं। बढ़ती हुई बेकारी ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। आजकल जो अपरिचित व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या मे भटकते हुए मेरे पास आते हैं, आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनमे से प्राय ३३ प्रतिशत नौकरी के लिए और ६७ प्रतिशत शोध कार्य के लिये आते हैं। जब मुझ जैसे अदना आदमी का यह हाल है तो लब्धकीर्ति दिग्गजों के पास भटकने वालों की दयनीय दशा की

कल्पना आप सहज ही कर सकते हैं। जनसंख्या की वृद्धि के समान शोधार्थी-संख्या की वृद्धि का नियन्त्रण भी आवश्यक है। किन्तु यह नियन्त्रण आयोजन के रूप में ही होना चाहिये, दमन के रूप में नहीं। जहाँ तक विषयों का प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं कि उनकी संख्या अनन्त नहीं हो सकती किन्तु हिंदी साहित्य का विस्तार काल और काय दोनों की दृष्टि से इतना अधिक है कि अभी तक निराश होने की कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। अभी तक राजस्थान, ब्रज, पंजाब और अवध के क्षेत्रों में इतना प्रचुर साहित्य अज्ञात पड़ा हुआ है कि सैकड़ों अनुसंधाताओं का श्रम उसमें सफल हो सकता है। इस अभाव-पूर्ति का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है अन्त साहित्यिक विषयों का चयन। अन्त साहित्यिक से मेरा आशय एसे विषयों से है जिन पर भारत के विभिन्न साहित्यों में परस्पर सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध है। हमारे प्राचीन और नवीन साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ एसी हैं जिनका भिन्न भिन्न भारतीय भाषाओं में समान रूप से विकास हुआ है और यह साम्य अनेक प्रकार का है कहीं मूल स्रोत का साम्य है, कहीं विकास की सरणियाँ समान हैं, तो कहीं-कहीं परस्पर आदान प्रदान मिलता है—ये तथ्य अत्यन्त मूल्यवान् हैं सत्य की शोध के लिये सामान्य रूप से और भारत की सांस्कृतिक परम्परा एवं उसकी मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसंधान हिन्दी शोध के इतिहास में एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध पुनरावृत्ति की समस्या भी है हिन्दी शोध के क्षेत्र में यह शिकायत बार बार सुनने में आती है कि भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों में एक से विषयों पर अनुसंधान हो रहा है जिससे श्रम का अपव्यय और स्तर का ह्रास हो रहा है। इस तथ्य में सत्य का अंश है, इसमें सन्देह नहीं—किन्तु उचित आयोजन से इस दोष का परिहार हो सकता है। कई स्थानों पर एक ही विषय पर शोध होना अपने आप में दोष नहीं है यह विषय पर निर्भर है। यदि विषय की परिधि सीमित है तो पुनरावृत्ति की आशंका हो सकती है, अन्यथा व्यापक विषयों पर तो शोध के लिए अनंत अवकाश है—सत्य के अनेक पहलुओं का उद्घाटन भी ज्ञान के विस्तार में अमूल्य योगदान करता है। इस दिशा में शोध संस्थानों के कार्य को आयोजित और समंजित करने की आवश्यकता है—जो विश्वविद्यालय-स्तर पर या विभागीय स्तर पर और भी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का दोष गुण बन जाएगा, एक ही विषय के अनेक पक्षों का उद्घाटन होगा और विवेचन में गंभीरता और सूक्ष्मता आएगी। दूसरा प्रश्न निरीक्षकों का है। यह प्रश्न निश्चय ही

हिंदी में शोध की कुछ समस्याएँ

हिन्दी म शोध की सबसे प्रमुख समस्या है शोधार्थियो की वर्तमान सख्या की। अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय म पधारे थे। उन्होंने बड उत्साह के साथ अपनी भाषा और साहित्य की प्रगति का वर्णन किया। काफी देर तक आदरपूर्वक सुनने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपके साहित्य म सभी विश्वविद्यालयो को मिलाकर कितने विद्यार्थी एम० ए० की परीक्षा म बठते हैं और अनुसधाताओं की कुल सख्या कितनी है? उन्होंने बडे गव से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया कोई तीस चालीस छात्र एम० ए० म बठते हैं और शोधार्थियो की सख्या आठ दस जरूर होगी। विद्वान् मित्र न फिर यही प्रश्न मुझसे किया। मैने कहा कि आप विश्वास कर सकें तो अपनी दोनों सख्याओं को कम-से कम ५० से गुणा कर दीजिये। यह वधमान सख्या हमारे लिए यदि गव का कारण नही है तो कम-से कम चिता का कारण भी नही है। किन्तु यह एक समस्या अवश्य है जो समाधान की अपेक्षा करती है। सबसे पहले तो विषयो की समस्या खडी होती है—नित्य नवीन अनुसधेय विषय भी तो असख्य नही हो सकते। अनुसधेय विषय स मेरा यह अभिप्राय है कि उस विषय की परिधि के भीतर तथ्य शोध और तत्त्व बोध दोनो के लिये ही वाछित अवकाश हो पुनरावृत्ति न होने पाय और साथ ही उसके परिणाम भी ज्ञानवधक हो। दूसरी सम्बद्ध समस्या है निरीक्षको की। इतने निरीक्षक कहाँ स आएँ? सख्या की यह वृद्धि जिस वेग से हो रही है पूर्ति के साधन उसके अनुपात म अत्यन्त अपर्याप्त हैं। बढती हुई बेकारी ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। आजकल जो अपरिचित व्यक्ति बहुत बडी सख्या म भटकते हुए मेरे पास आते हैं, आपको यह सुनकर आश्चय होगा कि उनम स प्राय ३३ प्रतिशत नौकरी के लिए और ६७ प्रतिशत शोध काय के लिये आते हैं। जब मुझ जसे अदना आदमी का यह हाल है तो लब्धकीर्ति दिग्गजो के पास भटकने वालो की दयनीय दशा की

प्रकाश कुछ नहीं मिलता और जो प्रकाशित हो गये हैं उनके स्तर से किसी प्रकार आतंकित होने का कारण हम दिखाई नही देता। शेष दो कारण स्वभावजात हैं। अस्वस्थ स्पर्धा धीरे धीरे स्वस्थ रूप धारण करती जा रही है, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के बीच सौमनस्य स्थापित होता जा रहा है। लक्ष्य की एकता और अधिकारों तथा कर्तव्यों का उचित विभाजन इस सौहार्द को शीघ्र ही दृढ़ कर देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। पिछले पंद्रह वर्ष के शोध कार्य का निरपेक्ष विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी क्षेत्र के प्राय प्रत्येक विश्वविद्यालय ने आगे या पीछे इस दिशा म पर्याप्त योग दान किया है, आगे काम करने वालों को यदि पथप्रदर्शन का गौरव प्राप्त है तो पीछे बढ़ने वाला को विकास का श्रेय है। परस्पर सहयोग स और भी अधिक लाभ की आशा है। किन्तु मेरा यह आशय कदापि नही है कि जो कुछ हो रहा है वह सर्वथा सतोषजनक है, उसम किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। स्तर से सम्बद्ध कुछ समस्याएँ वास्तव म अत्यन्त गम्भीर हैं। उनके समाधान के लिए आवश्यक उपाय होने चाहिए। सबसे पहला उपाय तो है उचित निरीक्षण की व्यवस्था। अभ्यर्थियों की वर्धमान संख्या के अनुपात म निरीक्षकों की संख्या वास्तव म बहुत ही कम है। परिणाम यह होता है कि एक एक निरीक्षक के अधीन अनेक प्रकार का शोध-कार्य हो रहा है, कहीं निरीक्षक और अनुसधाता म कम से कम पूरे ५०० मील की दूरी है और पूरी अवधि के भीतर मुश्किल से ही दो-तीन बार मुलाकात हो पाती है, कहीं निरीक्षक को शोध प्रबन्ध पढ़ने का अवकाश ही नहीं है और कहीं शोधार्थी अनुभव करता है कि निरीक्षक महोदय से तो मैं ही अधिक जानता हूँ। यह परिस्थितियाँ वास्तव म चिन्त्य हैं किन्तु इनके लिए निरीक्षक या प्राध्यापकों को दोष देना सर्वथा अनुचित होगा। विद्यार्थी की माँग इतनी अधिक है कि निरीक्षक लाचार हो जाता है। परन्तु यह लाचारी समस्या का समाधान तो नहीं है। निरीक्षक की अपनी सीमाएँ होती हैं—बौद्धिक भी और शारीरिक भी। शारीरिक का अर्थ यह है कि वह अपने नैत्यिक कार्य के साथ साथ तीन चार स अधिक शोध प्रबन्धों का निरीक्षण नहीं कर सकता—और बौद्धिक का आशय यह है कि निरीक्षक विशेषज्ञ ही हो सकता है, सर्वज्ञ नहीं। हमारे विश्व-विद्यालयों म विवश हो कर ऐसे विषय स्वीकार करने पड जाते हैं जिनम निरीक्षक का कोई प्रवेश नही—कभी-कभी तो निरीक्षक विषय से सर्वथा अबोध होता है। एक ही निरीक्षक को आल्हखड, कामायनी की भाषा, छायावाद, रीतिकाल और कहानी की शिल्पविधि जैसे सर्वथा असम्बद्ध विषयों का निर्देशन करना पड़ता

थोडा जटिल है किन्तु इसका समाधान भी असम्भव नहीं है। विश्वविद्यालयों को निरीक्षण कार्य व्यवस्थित करने के लिए अपने अन्तर्गत अनुसंधान-कक्षों की व्यवस्था करनी चाहिए—जहाँ पर शोध की विधि (मैथोडोलोजी) की सामूहिक रूप से नियमित शिक्षा दी जा सके। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के बाहर के शुद्ध साहित्यिक संस्थानों और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में हिन्दी प्रेमी विद्वानों और स्रष्टा साहित्यकारों से भी सम्पर्क स्थापित करना एक विशिष्ट सीमा के भीतर लाभप्रद हो सकता है। ऐसे अनेक साहित्यकार आज हमारे बीच विराजमान हैं जो हिन्दी के शोध-कार्यों में अनेक दृष्टियों से अमूल्य सहयोग दे सकते हैं। उपाधि के अभाव में उनके सहयोग से अपने को वंचित करते रहना वस्तुतः श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।

स्तर का प्रश्न और भी अधिक महत्वपूर्ण है। आजकल चारों ओर से यह शिकायत आ रही है कि हिन्दी में शोध का स्तर बहुत गिर गया है और बराबर गिरता जा रहा है। इस विषय में मेरा आपसे निवेदन है कि यह आरोप सर्वथा सत्य नहीं है—परिमाण की वृद्धि के साथ एक दम एक वन माल की आशा करना संगत नहीं है परन्तु सारा माल या अधिकांश माल घटिया है, यह कहना अन्याय है। वास्तव में इस आरोप के मूल में अनेक कारण हैं—विश्वविद्यालयों के बीच अस्वस्थ स्पर्धा भाव, पण्डितों की पारस्परिक ईर्ष्या, जेठी पीढ़ी के लोगों की अनुदारता, हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों का हिन्दी के विषय में अज्ञान और उसकी प्रगति के प्रति द्वेष आदि। यदि आप स्थिर मन से स्थिति का विश्लेषण करें तो रहस्य प्रकट हो जाएगा। शिकायत करने वाले कौन लोग हैं? हर जेठी पीढ़ी के लोगों का यह अटूट विश्वास होता है कि योग्यता के जो मानदण्ड उन्होंने और उनके साथियों ने स्थिर कर लिए, वे ही अटल हैं—बाद की पीढ़ियाँ तो निरंतर अवनति की ओर बढ रही हैं। जब हर पहली पीढ़ी का मैट्रिक पास अगली पीढ़ी के एम० ए० को पढा सकता है तो आज की पीढ़ी का शोध-कार्य पिछली पीढ़ी के शोधकों की दृष्टि में सर्वथा हेय हो इसमें आश्चर्य ही क्या! इस प्रसंग में मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहूँगा कि प्रतिभा और निपुणता किसी पीढ़ी का एकाधिकार नहीं है। एक ओर यदि पिछली पीढ़ी के कुछ प्रबंध आज भी हमारे लिए आदर्श हैं तो दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रबन्धों पर भी बुजुर्ग लोग बडी से बडी उपाधि मार ले गए हैं जिनको छपाने का साहस भी आज उनको नहीं है। हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों की आलोचना प्रायः अज्ञान, शंका और द्वेष से प्रेरित है। आखिर इन विषयों का भी शोध-कार्य तो सामने है—अधिकांश के लिए तो

एक उचित सीमा के भीतर ही रहना चाहिए उत्कर्ष की कामना तो होनी ही चाहिए किन्तु उत्कर्ष की धारणा केवल आर्थिक या व्यावसायिक न होकर बौद्धिक और आत्मिक भी होनी चाहिए। यह काम अधिकारियो के करने का है—उन्हें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि पी एच० डी० कालिज शिक्षा के लिए एल० टी० की स्थानापन्न न बन जाए। इससे शिक्षा और शोध दोनो की हानि है। प्रत्येक अच्छा शोधक अच्छा शिक्षक नही होता—कभी कभी वह साधारण स भी निकृष्ट अध्यापक सिद्ध होता है इसलिए दोनो के उद्देश्य और पद्धति मे भ्रान्ति नही करनी चाहिए। शोध काय के पुरस्कार को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित कर देने के परिणाम अत्यन्त अप्रिय हो सकते हैं और हो रहे हैं—उसके लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए अलग प्रतिष्ठान होने चाहिए जहाँ अनुसधाता की प्रतिभा और उपलब्धि का सम्यक् उपयोग किया जा सके। इस भ्रान्ति के निराकरण से स्तर म वृद्धि असदिग्ध है।

स्तर से सम्बद्ध एक और व्यावहारिक समस्या है पी एच० डी० और डी० लिट० क सापेक्षिक मूल्याकन की। अभी तक इस विषय म बडी गडबड रही है। पहले तो प्राय अकेली डी० लिट० की ही उपाधि थी—फिर पी एच० डी० और डी० लिट० दो उपाधिया चलने लगी—कही केवल एक और कहीं तारतम्य स दोनो। आज स्थिति प्राय स्पष्ट हो चुकी है उत्तर भारत के अधिकाश विश्वविद्यालयो म पी एच० डी० प्रथम शोध उपाधि हो गई है और डी० लिट० उसके बाद की—जो अपन क्षेत्र म उच्चतम उपाधि है। मैं समझता हूँ इस अन्तर को नियमित मान्यता प्रदान कर स्तर भेद की उचित व्यवस्था अनिवार्यत हो जानी चाहिए। जिन विश्वविद्यालयो म ऐसा नही है वहाँ भी शिक्षा क्रम की एकरूपता की दृष्टि स ऐसा हो जाना आवश्यक है। इस व्यवस्था के बाद फिर शोध के निरीक्षण परीक्षण का भी क्रम भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए। डी० लिट० के लिए निरीक्षक की आवश्यकता नही है—परामर्शदाता की भी नही। जो दूसरे का आसरा डी० लिट० म भी तकें उन्हें कुछ और काम करना चाहिए। मूल्याकन की दृष्टि से भी हमारी धारणा सवथा निर्भ्रान्त हो जानी चाहिए पी एच० डी० की अपेक्षा डी० लिट्० के शोध प्रबन्ध म विषय का विस्तार विवेचन का गाम्भीर्य और प्रतिपादन की सर्वांगपूर्णता निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और इसी आधार पर उसका मूल्याकन होना चाहिए। डी० लिट्० का प्रबन्ध एक दूसरा शोध प्रबध मात्र नही है वह स्पष्टत एक गुरुतर और गम्भीरतर शोधकाय है—ससतवन करन से पूव इस विषय मे परीक्षक को

है। कहीं-कहीं निरीक्षक का नाममात्र पान के लिए भटकता हुआ छात्र अनेक भौतिक सीमाओं को पार कर किसी ऐसे निरीक्षक से जा टकराता है जिसके साथ सम्पर्क भी प्राय दुलभ होता है। ऐसी स्थिति म सवत्र ऊचे स्तर की आशा करना व्यथ होगा। मेरा सुभाव है कि कम से कम इस प्रकार के निरीक्षण काय पर अवश्य प्रतिबन्ध लगना चाहिए। यह न नतिक दृष्टि स उचित है, न शक्षिक दृष्टि से ही। इसके अतिरिक्त पहले निरीक्षक को और बाद म परीक्षक को थोडी निममता बरतनी चाहिए—निमम न्याय चाहे न किया जाए किन्तु कम स कम सदय न्याय तो करना ही चाहिए। और इसमे अन्तत विद्यार्थी का अहित नही होता। तात्कालिक सन्तोष के लिए कच्ची-पक्की रचना को स्वीकृति दे देना अपने विषय और व्यवसाय के प्रति अन्याय है, साथ ही विद्यार्थी के लिए भी अत्यन्त अहितकर होता है क्योंकि आरम्भ स ही वह गम्भीर अनुसधान स पराङ्मुख होकर लीपा-पाती करने का आदत डाल लेता है जो अन्त म जाकर नितान्त घातक सिद्ध होती है। आरम्भ म एक आध वप अधिक परिश्रम कर लेना विद्याथ के हित म पहले होना है शिक्षा के हित म बाद म। इनके अतिरिक्त एक तीसरा ठोस उपाय है शोधपूव शिक्षण-क्रम की व्यवस्था। मैंने स्वय इस उपाय का व्यवहार करके देखा है और मुझे इसस बडा सन्तोष है। विद्यार्थी को उसकी रुचि के अनुकूल विषय देकर निर्देशन की व्यवस्था कर देनी चाहिए और यह शत लगा देनी चाहिए कि सामग्री का सकलन और कम से कम भूमिका भाग लिख लेने के बाद ही उसका नियमित प्रवेश हो सकेगा। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो उन विद्यार्थियो की झूठी भूख मर जाती है जो किसी और काय के अभाव म इच्छा अनिच्छापूवक शोध के लिए टूट पडते हैं। इस प्रकार अनधिकारी व्यक्तियो क छँट जान स अनुशासन में भी दृढता आती है। दूसरे सच्चे शोधक को अपनी सीमा और शक्ति समझने, शोध का पूर्वाभ्यास करने और विधि विधान का उचित ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है—उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है और लपक झपक म उपाधि प्राप्त कर लेने की अस्वस्थ स्पृहा का शमन हो जाता है। सब मिलाकर इस पद्धति से विद्यार्थी नुकसान म नही रहता क्योंकि तीन वप तो शोध प्रबन्ध लिखने म लग ही जाते हैं।

आज वास्तव म परिस्थितियो क कारण शोध के प्रति अभीष्ट दृष्टिकोण का लोप हो गया है। इसलिए आवश्यकता यह है कि उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर शुद्ध बौद्धिक एव शक्षिक दृष्टिकोण का पुनर्विकास किया जाए। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि शोध उपाधि का सम्बन्ध व्यावसायिक उन्नति के साथ

एक उचित सीमा के भीतर ही रहना चाहिए उत्कर्ष की कामना तो होनी ही चाहिए किन्तु उत्कर्ष की धारणा केवल आर्थिक या व्यावसायिक न होकर बौद्धिक और आत्मिक भी होनी चाहिए। यह काम अधिकारियों के करने का है—उन्हें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि पी एच० डी० कालिज शिक्षा के लिए एल० टा० की स्थानापन्न न बन जाए। इससे शिक्षा और शोध दोनों की हानि है। प्रत्येक अच्छा शोधक अच्छा शिक्षक नहीं होता—कभी कभी वह साधारण से भी निकृष्ट अध्यापक सिद्ध होता है इसलिए दोना के उद्देश्य और पद्धति में भ्राति नहीं करनी चाहिए। शोध काय के पुरस्कार को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित कर देने के परिणाम अत्यन्त अप्रिय हा सकते हैं और हो रहे हैं—उनके लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए अलग प्रतिष्ठान हाने चाहिए जहा अनुसधाता की प्रतिभा और उपलब्धि का सम्यक उपयोग किया जा सके। इस भ्राति क निराकरण से स्तर म वृद्धि असदिग्ध है।

स्तर से सम्बद्ध एक और व्यावहारिक समस्या है पी एच० डी० और डी० लिट० के सापेक्षिक मूल्याकन की। अभी तक इस विषय म बडी गडबड रहा है। पहले तो प्राय अकेली डी० लिट० की ही उपाधि थी—फिर पी एच० डी० और डी० लिट० दो उपाधियाँ चलन लगीं—कहीं कवल एक और कहीं तारतम्य से दोना। आज स्थिति प्राय स्पष्ट हो चुकी है उत्तर भारत के अधिकाश विश्वविद्यालया म पी एच० डी० प्रथम शोध उपाधि हो गई है और डी० लिट्० उसके बाद की—जो अपन क्षेत्र म उच्चतम उपाधि है। मैं समझता हूँ इस अन्तर को नियमित मान्यता प्रदान कर स्तर भेद की उचित व्यवस्था अनिवायत हो जानी चाहिए। जिन विश्वविद्यालयो म ऐसा नहीं है वहाँ भी शिक्षा क्रम की एकरूपता की दृष्टि से ऐसा हो जाना आवश्यक है। इस व्यवस्था के बाद फिर शोध के निरीक्षण परीक्षण का भी क्रम भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए। डी० लिट० के लिए निरीक्षक की आवश्यकता नहीं है—परामशदाता की भी नहीं। जो दूसरे का आसरा डी० लिट० म भी तकें उन्हें कुछ और काम करना चाहिए। मूल्याकन की दृष्टि स भी हमारी धारणा सवथा निर्भ्रान्त हो जानी चाहिए पी एच० डी० की अपक्षा डी० लिट्० क शोध प्रबन्ध म विषय का विस्तार, विवेचन का गाम्भीय और प्रतिपादन की सर्वांगपूर्णता निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और इसी आधार पर उसका मूल्याकन हाना चाहिए। डी० लिट्० का प्रबन्ध एक दूसरा शोध प्रबध मात्र नहीं है वह स्पष्टत एक गुरुतर और गभीरतर शोधकाय है—अस्तवन करन से पूव इस विषय म परीक्षक को

अनुसधान और आलोचना

लक्ष्य भेद से अनुसधान के स्थूलत दो भेद किये जाते हैं—सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुत यह विभाजन सवथा स्थूल है अनुसधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एव उपलब्धि की दृष्टि से दोनो म काई मौलिक अतर नही है। अर्थात् उपाधि तो केवल एक आनुषगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उसस अनुसधान की आत्मा उपाधि ग्रस्त ही होती है इसलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण ही उपयुक्त है। फिर भी हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप हैं अत अपने आवरण के अतगत उपाधि-सापेक्ष्य रूप ही हमार विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि सापक्ष्य अनुसधान के लिए प्राय निम्नलिखित उपब घो का विधान है

(१) इसम (अनुपल ध) तथ्यो का अ वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यो या सिद्धान्तो का नवीन रूप मे आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति म यह ग्र थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यथ। म आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक निणय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उाका अनुसधान किन अशो म उसके अपन प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय विशेष के अ ययन को कहाँ तक और आगे बढाता है।

(२) निरूपण-शली आदि की दृष्टि स भी इस ग्र थ का रूप आकार सतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इस यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

(आगरा यूनिवर्सिटी पी एच० डी० नियमावली, पृ० ४)

आगे चलकर डाक्टर आफ लटस के प्रसग म भी प्राय इन्हीं विशेषताओ का उल्लेख है—केवल एक बात नयी है। वहाँ विषय के अध्ययन को और आग बढ़ाने' क स्थान पर 'ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार' अपक्षित माना गया है। डी० लिट्० की उपाधि की गुरुता को दखत हुए यह उपब ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयो के नियमो म भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्व

विद्यालय विधान के अनुसार अनुसधान के तीन तत्व हैं

१—अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण।

२—उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान।

३—ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार, अर्थात् मौलिकता।

४—इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन शली।

अनुसधान के इन चार गुणों म स मौलिकता तथा प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङमय के प्राय सभी रूपों के लिए समान है, नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान—ये दो गुण अनुसधान के अपने विशिष्ट धम हैं। विश्वविद्यालयों का विधान इन दो म से एक को अनिवाय मानता है इसीलिए सबधित अनुच्छेद म विकल्पवाचक या का प्रयोग किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि नवीन तथ्यों का अन्वेषण तो ठीक है किन्तु उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का आख्यान अनुसधान के अतगत क्या माना जाए। इसका एक सीधा उत्तर यह है कि केवल आख्यान अनुसधान नहीं है, नवीन आख्यान अनुसधान है नवीनता ही यहा भी प्रमाण है। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अथ है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यजित जीवन सत्य या मानव सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु रूप म जड है किन्तु मानव जीवन के सन्दभ म—अर्थात् मानव-चेतना के ससग से वह चेतन्य बन जाता है मानव चेतना के ससग से जो एक नवीन अथ-ज्योति उसम कौंध जाती है उसी को आलकारिकों न व्यजना कहा है। वास्तव मे तथ्यों के आख्यान का अथ इसी निहित व्यजना का विहित करना है। यद्यपि व्यजना का स्वरूप तथ्य रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अतन ससीम ही होता है किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमे अनेक अथ छायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अथ छायाओं के कारण ही तथ्य के नवीन चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसलिए अनुसधान के लिए पूण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसधान के अतगत आता है।

आप लोगों की सुविधा क लिए मैं सक्षेप म तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हैं—सत्य के इस रूप विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनम से कुछ तथ्य तो विहित रहते हैं किन्तु अनेक तथ्य प्राय निहित रहते हैं—अथवा काल के आवरण म

विद्यालय विधान के अनुसार अनुसंधान के तीन तत्त्व हैं

१—अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण।

२—उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धांतों का पुनराख्यान।

३—ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार, अर्थात् मौलिकता।

४—इनके अतिरिक्त एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन शैली।

अनुसंधान के इन चार गुणों में से मौलिकता तथा प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्रायः सभी रूपों के लिए समान है, नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों या सिद्धांतों का नवीन आख्यान—ये दो गुण अनुसंधान के अपने विशिष्ट धर्म हैं। विश्वविद्यालयों का विधान इन दो में से एक को अनिवार्य मानता है, इसीलिए संबंधित अनुच्छेद में विकल्पवाचक 'या' का प्रयोग किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि नवीन तथ्यों का अन्वेषण तो ठीक है किन्तु उपलब्ध तथ्यों या सिद्धांतों का आख्यान अनुसंधान के अंतर्गत क्यों माना जाए। इसका एक सीधा उत्तर यह है कि केवल आख्यान अनुसंधान नहीं है, 'नवीन' आख्यान अनुसंधान है — नवीनता ही यहाँ भी प्रमाण है। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यंजित जीवन सत्य या मानव सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु रूप में जड़ है किन्तु मानव जीवन के संदर्भ में—अर्थात् मानव-चेतना के संसर्ग से वह चेतन्य बन जाता है। मानव चेतना के संसर्ग से जो एक नवीन अर्थ-ज्योति उसमें कौंध जाती है उसी को आलंकारिकों ने व्यंजना कहा है। वास्तव में तथ्यों के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यंजना को विहित करना है। यद्यपि व्यंजना का स्वरूप तथ्य रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अत्यन्त ससीम ही होता है, किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमें अनेक अर्थ छायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अर्थ छायाओं के कारण ही तथ्य के नवीन, चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसलिए अनुसंधान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसंधान के अंतर्गत आता है।

आप लोगों की सुविधा के लिए मैं, संक्षेप में, तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अंतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हैं—सत्य के इस रूप विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विहित रहते हैं किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित रहते हैं—अथवा काल के आवरण में

रहे हैं। इस विचार विनिमय के अंतर्गत अनुसंधान के विषय में अनेक प्रश्न सामने आये हैं। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस' कैसे लिखा जाएगा—थीसिस से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसंधान जिसमें प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोध-मण्डल की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी काव्य के विकास में सिक्ख कवियों का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अंतर्गत अनुसंधाता क्या शोध करेगा? मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका मानो चनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा, परवर्ती अनुसंधाता उसके आधार पर अंतरंग विवेचन करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसंधान नहीं है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिक्ख कवियों के ग्रन्थों का पाठानुसंधान और सम्पादन तो अनुसंधान के अंतर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नहीं—सर्वेक्षण तो अनुसंधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनों ही प्रसंग अनुसंधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अंग्रेज़ी का एक शब्द है 'थीसिस' जो संस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है—इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसको अनुगमन या निगमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार शोध प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है—इसीलिए अंग्रेज़ी में शोध प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ़ हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम शोध प्रबन्ध में किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उसमें अनुसंहित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाना है। किन्तु इसकी सम्भावना सर्वत्र नहीं है। वास्तव में इस प्रकार का अनुसंधान उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहाँ अध्ययन काफ़ी विकसित हो चुका है। जहाँ प्रारम्भिक कार्य ही नहीं—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियों पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार के प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसंधान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध प्रबन्ध मैंने देखे—एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक में यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय—आलो

अनुसधाता उनकी व्यजनाओ का उद्घाटन करता है—अर्थात् उनके द्वार व्यजित तुलसी व्यक्तित्व के गुण-दोषो का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चलकर व्यक्तित्व के ये गुण दोष स्वय तथ्य बन जाते हैं और अनुसधाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अतरग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है—वह तुलसी की रचनाओ का क्रम निर्धारित करता है, उनमे निहित दार्शनिक एव नतिक विचारो का उनकी शली के तत्वो का, भाषा के तत्वो शब्द समूह आदि का विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुत तथ्यानुसधान के अतगत ही आएगा—भेद कवल इतना है कि ये तथ्य बहिरग न होकर अतरग हैं किन्तु हैं ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है, अन्यथा ये भी जडवत् हैं। इनके आख्यान का भी अथ होगा इनकी व्यजनाओ का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मगल आदि मानस की पूववर्ती रचनाए है और विनयपत्रिका परवर्ती—इस तथ्य की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है किन्तु साधन रूप मे ही अर्थात् इस तथ्य के द्वारा व्यजित तुलसी क कवित्व विकास का महत्त्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इस क्रम विकास द्वारा व्यजित तुलसी की कवि आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य शली के तत्वों का विश्लेषण तथ्यानुसधान मात्र है, इन तत्वो के द्वारा व्यजित तुलसी काव्य के स्वरूप का अनुसधान तथ्याख्यान है उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' म तथ्यानुसधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना गोस्वामी तुलसीदास' म तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यों के सकलन को देखकर सच्चा अनुसधाता प्रश्न करेगा—इसस क्या ? और फिर उनके आधार पर अपनी आतरिक जिज्ञासा—काव्य के मम के उद्घाटन—म प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य म साधर्म्य मूलक अलकारो की सख्या वधम्य मूलक अलकारो स अधिक है—यह एक उपयोगी तथ्य है इसकी व्यजना यह है कि तुलसी क काव्य म वदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मन शाति रूप है, बुद्धि चमत्कृति रूप नही है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यजना करता हुआ काव्य के मम तक पहुँचने म सहायता देता है—यही तथ्याख्यान है।

विगत कइ वर्षों स मेरा अनुसधान से व्यावसायिक सम्बध रहा है—अनेक विषयो के निरीक्षको परीक्षको के साथ विचार विनिमय के प्रचुर अवसर मिलत

रहे हैं। इस विचार विनिमय के अतगत अनुसधान के विषय म अनेक प्रश्न सामने आये हैं। एक बार हिन्दी के एक मा य विद्वान् ने हमारे एक शोध विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचाय' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस' कसे लिखा जाएगा—थीसिस से उनका आशय था एक विचार सूत्र का अनुसधान जिसमे प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोध-मण्डल की किसी बठक म इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी काव्य के विकास मे सिख कवियो का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अतगत अनुसधाता क्या शोध करेगा ? मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सवथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा, परवर्ती अनुसधाता उसके आधार पर अतरग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षको की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसधान नही है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिख कवियो के ग्रन्थो का पाठानुसधान और सम्पादन तो अनुसधान के अतगत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नही—सर्वेक्षण तो अनुसधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनो ही प्रसग अनुसधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अंग्रेज़ी का एक शब्द है 'थीसिस' जो सस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है—इसका अथ है कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसको अनुगमन या निगमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानो के अनुसार शोध प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है—इसीलिए अंग्रेज़ी म शोध प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ़ हो गया है। इसम सदेह नही कि उत्तम शोध प्रबन्ध म किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसहित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सवथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इसकी सम्भावना सवत्र नही है। वास्तव म इस प्रकार का अनुसधान उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहाँ अध्ययन काफी विकसित हो चुका है। जहाँ प्रारम्भिक काय ही नहीं—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियो पर इतना काय हो चुका है कि इस प्रकार के प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसधान-काय हो भी रहा है। पिछले वष दो शोध प्रबन्ध मैंने देखे—एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक म यह प्रस्थापना की गई थी कि आचाय शुक्ल का मूल जीवन-दशन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय—आलो-

घना, रिय, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन मे अनुप्राणित हैं। दूसरे मे प्रस्थापना का गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनि काव्य है और उसी के प्रकाश मे सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसधान की उच्चतर भूमि है—यहाँ शोधकर्ता अनेकता म एकता के अनुसधान का सीधा प्रयत्न करता है। अनकता म एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है—इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अत शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक से अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन होती है अत यहाँ भी शोधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के अनुसधान म यह आशका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यो को विकृत रूप म पश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। *ऐसा प्राय सम्भव है और इसीलिए यह शोध पद्धति अधिक वस्तुपरक नहीं* मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धात यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करें, शोधक तथ्यों का शासन न करे। स्पष्टत उपयुक्त प्रणाली म दूसरी बात का खतरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो खतर स खाली कभी रही ही नहीं।

अनुसधान का तीसरा प्रमुख तत्व है ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार'। वास्तव मे यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्तक धर्म है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धान्तो का नवीन आख्यान—ये दोनो तत्त्व इसी सिद्धि के साधन हैं। इनम से कोई एक तत्त्व या सभी तत्त्व मिल कर अनत ज्ञान की वृद्धि करते हैं—यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव म अनुसधान का मूल उद्देश्य है। *अन्य गुण जसे व्याख्या, विवेचन सप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसधान* के महत्त्वपूर्ण धर्म है, किन्तु वे व्यावर्तक धर्म नहीं हैं क्योंकि एक तो उनके अभाव म भी अनुसधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रो म भी उनका उतना ही वरन् इसस भी अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव म अनुसधान का स्वरूप खण्डित हो जाता है—ऐसा विवेचन या प्रति *पादन जो ज्ञानवृद्धि मे सहायक न हो अनुसधान की परिधि म नहीं आयेगा या* कम से कम शुद्ध अनुसधान के अतगत नही माना जायेगा। विचार या भाव का सप्रेषण अपने आप म साहित्यिक अध्ययन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है—एक दृष्टि स उसका सर्वाधिक मूल्य है किन्तु वह निरपेक्ष रूप म अनुसधान के अतगत नहीं आयेगा। अत निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसधान का व्यावर्तक धर्म है।

आलोचना

आलोचना का शब्दार्थ है सर्वांग निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र मे आलोचना से अभिप्राय है किसी साहित्यिक कृति का सागोपाग निरीक्षण। इसके अन्तगत तीन कतव्य कम आते हैं—१ प्रभाव ग्रहण, २ व्याख्या विश्लेषण, और ३ मूल्याकन अथवा निणय। आलोचना मूलत कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय म उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात् प्रिय अप्रिय प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। इसके उपरात वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रियता के कारणों का विश्लेषण करती है सौंदय शास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियो और समाजशास्त्र के अनुसार दोनो की सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्या लगती है। और, अत म इन दोनो प्रक्रियाओ के आधार पर उसका मूल्याकन किया जाता है। आलोचना के अतगत ये तीन प्रक्रियाएँ आती हैं—किसी न किसी रूप म आलोचना इन तीनो कतव्यो का निर्वाह करती है, अवधारण का भेद हो सकता है किन्तु समालोचना म प्राय इन तीनो म स किसी की उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

उपयु क्त विवचन से स्पष्ट है कि अनुसधान और आलोचना दोनो की केवल जाति ही नहीं, उपजाति भी एक है। अत दोनो म पर्याप्त साम्य है। दोनो की पद्धति बहुत कुछ समान है। व्याख्या विश्लेषण और निणय दोनो म समान हैं। अनुसधान म जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या विश्लेषण है, दोनो में विवेचन, काय कारण सूत्र का अन्वेषण, परस्पर सम्बन्ध तथा अथ व्यजना आदि का उद्घाटन समान रूप स रहता है। इसी प्रकार पक्ष विपक्ष व सतुलन आदि के आधार पर निष्कष और निणय की पद्धति भी दोनो मे प्राय समान ही है। तथ्य विश्लेषण के उपरात तत्त्व रूप म निष्कष ग्रहण करना सवथा आवश्यक होता है—उसके बिना तथ्य विश्लेषण का कोई अथ ही नहीं रह जाता। अत निष्कष तथा निणय का महत्त्व अनुसधान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है, उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। तथ्याधार अनुसधान के लिए तो एकात अनिवाय है ही किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना म विश्वास की दृढ़ता नहीं आती।

यह सब होने पर भी अनुसधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं। मनो-

निशान से पुष्ट संस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नही करते—उनमे कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' उसमे 'सम्' उपसर्ग लगाकर संधान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बाँधना, निशाना लगाना और आलोचना की मूल धातु है 'लोच्' अर्थात् देखना। इसी मूल धातुद्वय के आधार पर दोनो के रूढ अर्थ मे आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बाँध कर उसके पीछे बढना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना। यही दोनो के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान मे अन्वेषण पर अधिक बल है और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनो तत्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नही है—अन्वेषण बिना निरीक्षण परीक्षण के कृतकार्य नही हो सकता और इसी तरह निरीक्षण परीक्षण के लिए भी पूर्व क्रिया रूप मे अन्वेषण की आवश्यकता प्रायः रहती है फिर भी अनुसंधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णत सह-व्यापक नही है। अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अंतर्गत नही आते और आलोचना के भी कुछ रूपो को शुद्ध अनुसंधान मानने मे वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए जीवन चरित विषयक अनुसंधान पाठानुसंधान भाषावैज्ञानिक अनुसंधान आदि रूप आलोचना के अंतर्गत नही आ सकते। इसका अभिप्राय यह नही है कि इनमे आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रो का अनुसंधाता आलोचना शक्ति एवं निर्णय की क्षमता से सम्पन्न नहीं होता वास्तव मे इन सभी क्षेत्रो मे भी निरीक्षण-परीक्षण निष्कर्ष ग्रहण आदि उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने अन्यत्र परन्तु आलोचना का प्रयोग यहाँ हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज्म) के रूढ अर्थ मे ही कर रहे हैं सामान्य अर्थ मे अर्थात् सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ मे नही। इसी प्रकार आलोचना के कुछ ऐसे रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार जो अनुसंधान की गरिमा को वहन नही कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रो मे पूर्ण सहव्याप्ति नही है।

अपने मतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ मे आलोचना के स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्नपत्र मे एक सवाल था। आलोचना विज्ञान है या कला ? मुझे याद नही उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था किन्तु आज मेरे मन मे इसका उत्तर स्पष्ट है। आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली मे आलोचना न तो उस अर्थ मे रस का साहित्य है जिस अर्थ मे कविता उपन्यास, कहानी आदि हैं और न उस अर्थ मे ज्ञान का साहित्य है

जिस ग्रंथ में दर्शन शास्त्र या मनोविज्ञान या तर्क-शास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप में रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वों के प्रभाव को ग्रहण किए बिना रह नहीं सकती क्योंकि विषय के तत्त्व, उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन-पद्धति को भी अनिवार्यत अनुशासित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं अनुभूति और कल्पना, उसका प्राण है रस। अत साहित्य की विवेचन पद्धति अंगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नहीं सकती। अतएव उसमें भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का अंतर्भाव अनिवार्यत हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना में कला तत्त्व अनिवार्यत विद्यमान रहता है, उसमें आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है। अनुसंधान के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है। कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए क्योंकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है एक शैली होती है जो वाङ्मय के अन्य रूपों से उसके रूप वशिष्ट्य को पृथक करती है। अनुसंधान के उपबंध ४ में निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'संतोषप्रद' रूप आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नहीं। उदाहरण के लिए निबंध की ललित गद्य-शैली अनुसंधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न संतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि आत्माभिव्यक्ति अथवा कला तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है किन्तु साहित्यिक अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यों का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं है वरन् ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी न किसी प्रकार के—बहिरंग अथवा अंतरंग तथ्यों के सम्यक अन्वेषण के बिना अनुसंधान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर इन तथ्यों के आख्यान में अनुसंधाता की दृष्टि एकांत वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें, वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यों तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है किन्तु अनुसंधान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकांत तपश्चर्या का मार्ग है उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित् नहीं है। आत्मरस का यत्किंचित सस्वरा उसके लिए एकांत वर्जित नहीं है। इसी प्रकार वैज्ञानिक

प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है। सदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रन्थ सूची, पाद टिप्पणियाँ आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अतर्गत आती है। वास्तव म यह प्रविधि या शिल्प विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नहीं है, किन्तु वहाँ इसका उतना अनिवार्य महत्त्व नहीं है। शुद्ध आलोचना म आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है। वस्तुत इनस उसका ध्यान भग होने की भी सभावना हो सकती है।

अनुसधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नहीं होता—अनुसधान का लक्ष्य, जसा कि हमन अभी सिद्ध किया, ज्ञान-वृद्धि है, किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसधान ज्ञान की वृद्धि म योग नहीं देता वह विधानत असफल है किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नहीं है—जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नहीं करा सकती अर्थात् उसके सार भूत प्रभाव का सम्प्रेषण नहीं कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनो के आरम्भ म भी स्पष्ट भेद हो जाता है। आलोचना का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया। अनुसधाता के लिए वह आवश्यक नहीं है—प्राय बाधक भी हो सकती है वह अपना कार्यारम्भ तथ्य सकलन से करता है जिसम उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसधान और आलोचना के आरम्भ और फलागम मे बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैंने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसधान और आलोचना क साम्य और वषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो सक्षेप म अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दूँ जिससे आगे के विवेचन म सहायता मिल सके।

साम्य (१) अनुसधान और आलोचना एक ही विद्या—साहित्य विद्या—के दो उपभेद हैं।

(२) दोनो की पद्धति बहुत कुछ समान है। दोनो की प्रक्रिया म तथ्यो के सकलन—त्याग एव ग्रहण, व्याख्यान विश्लेषण, निष्कर्ष ग्रहण का प्राय उपयोग किया जाता है।

वषम्य—(१) किन्तु अनुसधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं—धात्वर्थ के अनुरूप अनुसधान म अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना मे

निरीक्षण परीक्षण पर।

(२) अनुसधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो आलोचना के अतगत नही आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसधान के उपबधो की पूर्ति नहीं कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्व आलोचना का अनिवाय गुण है, किन्तु अनुसधान म उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया का महत्त्व अनुसधान के लिए अनिवाय है—आलोचना के लिए उसका महत्त्व परिशिष्ट रूप म ही रहता है।

(५) अनुसधान का प्रत्यक्ष उद्देश्य है ज्ञान की वद्धि और आलोचना की सिद्धि है भम की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है कि इस भेदाभेद निरूपण से दोना के विषय मे आपकी सापेक्षिक धारणाएँ और मानस बिम्ब थोडे बहुत स्पष्ट अवश्य हो गये हूंगे। किन्तु यह तो पूवपक्ष है, या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष म मैं अपने से और आप से एक प्रश्न करता हूँ क्या शुद्ध आलोचना अनुसधान नही है? यह प्रश्न एक दूसरे ढग से भी रखा जा सकता है क्या उत्तम आलोचना अनिवायत उत्तम अनुसधान नही है? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्य-शास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवायत उत्तम अनुसधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी म जायसी ग्रथावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असंदिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है, इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सद्धान्तिक निबधों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास म उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार सदिग्ध हो सकता है? अर्थात् क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। ये आलोचक हैं शान्ति प्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्य पूवक उनके सफल अनुसधाता होने म शका कर सकते हैं। इसके उत्तर म मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रिय जी की जिन रचनाओं का शोध महत्त्व सदिग्ध है

उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्रायः निम्न कोटि की आलोचना ही मानी जाती है। नासिकप्रिय जी अपने चित्त को संयत और दृष्टि को स्थिर कर जहाँ आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहाँ उनकी आलोचनाओं का शोध मूल्य भी असंदिग्ध है। छायावादी सौंदर्य दृष्टि की विवृति अपने आप में महत्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूँगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल तत्त्व शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के सदर्भ-ग्रन्थों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में और वहाँ के अनुकरण पर इस देश में भी ऐसे ग्रन्थों का महत्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता किन्तु ये सब तो अनुसन्धान की सामग्री या साधन मात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनसे हिन्दी-साहित्य और उसके अनुसंधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें आदर्श अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसन्धान के प्रारूप हैं। तत्त्व दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। सत्य और तथ्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की चरम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबंध २—तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन आख्यान के अंतर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप से किया गया है, किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य शोध का साधन होकर रह जाता है सत्य

प्रयत्न किया और एक नवीन शोध प्रणाली का आविर्भाव हुआ, जो प्रचलित प्रणाली के साथ समय में आने लगी। उसी समय से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनों ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान में तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढ़ा—पुष्ट तथ्याधार से विवेचना में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया में वैज्ञानिक व्यवस्थिति एवं पूर्णता आई। दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित प्रबुद्ध निरूपण की प्रवृत्ति का नियन्त्रण हुआ। इससे न केवल हिंदी अनुसंधान का वरन् हिंदी आलोचना का भी कल्याण हुआ किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। अतः दृष्टि अवरुद्ध होने लगी—तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओं में उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यों को व्यक्त करने के लिए यान्त्रिक परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियन्त्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूप विधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण रस सूखने लगा। साहित्य के मतदर्शन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिंदी अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहाँ विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव में इस प्रवृत्ति के मूल में एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। अतः जो विद्वान विज्ञान की निस्संग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि प्रक्रिया का यथावत् आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का। पर, इसके आगे बढ़ना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका आज हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है।

अनुसधान आलोचना नही है, इस भ्रात धारणा से अन्य भ्रातिया का जन्म हो रहा है, हिंदी का अनुसधाता यह समझने लगा है कि अनुसधान का काय केवल अन्वेषण करना है सत्साहित्य और असत्साहित्य—यहाँ तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता ? फलत आज साहित्यिक अनुसधान के नाम पर ऐसे वाङमय का सग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अतगत नही आता। मैंने भारतीय हिंदी परिषद् की निबन्ध गोष्ठी के सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट नही कर पाया था और सुना था बाद म कतिपय विद्वानों का मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव म यह है कि साहित्यिक अनुसधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अतगत नही आती अर्थात् जो अपनी विषय वस्तु और प्रतिपादन शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे सवथा अक्षम है, साहित्य के अनुसधान के अतगत सग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिंदी के अनुसधाता आदि काल, भक्ति-काल, आधुनिक हिंदी साहित्य के पूर्वाध आदि स सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे हैं जो साहित्य नही है। उदाहरण के लिए रामकाव्य अथवा कृष्णकाव्य के कलेवर को विगत १० १५ वर्षों म नवीनता के अन्वेषकों न ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रथो स भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं हैं। आप कहेंगे उनका ऐतिहासिक एव सास्कृतिक मूल्य है—ठीक है मैं भी इसे मानता हूँ, किंतु अनुसधान के विषय का शीषक तो रामकाव्य या कृष्ण-काव्य है रामभक्ति अथवा कृष्णभक्ति सम्प्रदायों का इतिहास नही है। जो स्पष्टत अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए किंतु काव्य शीषक के अतगत उसका अनुसधान करन की कृपा न कीजिए। आदि-काल को ही लीजिए—नाथों और सिद्धो की सकडो रचनाओ का हमारे खोजियो ने साधुओ की गुदडियों म से निकालकर ढेर लगा दिया है—आयुर्वेद कृषि समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रथ हिंदी साहित्य का सीमा विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करत जा रहे हैं। निगुण सतों की साम्प्रदायिक बानियाँ जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितात अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य रसिक ने जिनका भूल कर भी उल्लेख नही किया, आज के वनानिक अनुसधान के फलस्वरूप हिंदी काव्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक-काल मे भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिंदी साहित्य में अविकल रूप स समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का

माध्यमरण भी जोर न हो रहा है—और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक हृदय की करुण मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ न कुछ संपर्क बना रहता था। किंतु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रांत निर्णय था

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्य वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

भामह—काव्यालंकार २।८७

अर्थात् सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोंसला में जा रहे हैं—यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्यशास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रांति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मन्तव्य को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसंधान में इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों, नाथों और संतों की बानियों का अपूर्व महत्त्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारों का चिर आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक संस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। मध्य युग अथवा आधुनिक काल के हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपयुक्त सामग्री अत्यंत मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असंदिग्ध है। किंतु यह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो संतकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, सूफीकाव्य के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है ? केवल यह गलत नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है—इसलिए आलोचक दृष्टि के अभाव में अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सप्रटा को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) में साफ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का लक्ष्य क्या है ? काव्य सत्य की शोध ही न ? जिस अनुसंधान

म काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है ?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूँ। कक्षा म प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय मे आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूँ कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नही। मेरे वक्तव्य से उनके मन म कुछ भ्रांतियाँ तो उत्पन्न नही हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूँ ! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहाँ उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूँ और अनुसधान के विषय म अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक सकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूँगा। मेरी स्थापनाएँ सक्षेप म इस प्रकार हैं —

१—अनुसधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नहीं है—अनुसधानकर्मी का यह समझकर अपने काय म प्रवृत्त होना चाहिए। इसस उसकी प्रवृत्ति तथ्यशोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्या पर निभर न रहकर।स्वय भी नवीन सामग्री के सकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वय करेगा। प्रत्येक शोधकर्त्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अतगत तथ्या वेषण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किंतु यह अनुसधान का अथ है, इति नही है। उसी विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसधान की सभावनाएँ बनी रहती हैं। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए ध्रुवदास क जीवनवृत्त और कवि-वृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अन्य कई अनुसधाता ध्रुवदास की काव्य कला, दाशनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसधान कर सकते हैं।

३—तथ्या वेषण अनुसधान का आधार मात्र है और प्रारम्भिक रूप होन के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी० लिट० के लिए इस प्रकार के शोध-काय की सस्तुति करने म मुझे अत्यन्त सकोच होगा जब तक कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४—आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसधाता की कल्पना नहीं कर सकता। शोध नियमा के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना

पडता है कि अनुसधाता ने अपने प्रबन्ध मे आलोचन क्षमता का परिचय दिया है। सत्य शोध के तीन सस्थान हैं—तथ्य सग्रह विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार म परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि सम्भव नहीं है और विचार को प्रतीति म परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नहीं। तथ्य को विचार रूप देने के लिए भावन की आवश्यकता पडती है और विचार को प्रतीति मे परिणत करने के लिए दशन अनिवाय है—और ये दोनो ही साहित्यालोचन के अतरग तत्त्व हैं। अत उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में निर्भ्रान्त रहना चाहिए।

इसलिए मेरे तरुण मित्रो! आप शक्ति और साधन के अनुसार अपने गतव्य का निर्धारण कर लें। आपकी दृष्टि यदि व्यावसायिक है तो सामान्य अज्ञात या अधज्ञात कवि लेखक क वरदान से ही तथ्यान्वेषण के द्वारा उपाधि मिल जाएगी, यदि अपनी प्रतिभा के प्रति आप जागरूक हैं और आपकी मनस्विता निम्नकोटि की सफलता से सतुष्ट नहीं हो सकती तो आपको अपनी आलोचन शक्ति को आँजना और माँजना होगा जिससे कि आप तथ्यो की व्यजना को समझ और समझा सकें, और इससे भी आगे बढकर यदि आप अनुसधान के क्षेत्र म अमर उपलब्धि करना चाहते हैं तो निरतर साधना के द्वारा साहित्य दशन की क्षमता का विकास करना होगा।

दादा—स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मेरे किशोर मन म जसे-जसे साहित्यिक चेतना का विकास होता गया, वसे ही स्वदेश विदेश के कलाकारों के कल्पना धूमिल रोमानी चित्र मेरे मन मे बनने लगे और उनके साथ एक विशेष प्रकार का रागात्मक सबध स्थापित होने लगा। कालातर म प्रसाद और प्रेमचन्द को छोडकर इस युग के प्राय सभी मुख्य लेखको से परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मेरे साहित्यिक सबध क्रमश दो वर्गों मे विभक्त हो गये। पहला वग तो ऐसे लेखकों का है जिनके साथ मेरा कवि-सहृदय-सबध ही अधिक है—इस सबध म ससगजन्य सहज आत्मीय भाव की अपेक्षा बुद्धि और कल्पना से सस्पृष्ट एक प्रकार की अप्रत्यक्ष श्रद्धा ही रहती है। दूसरे वग के कवि लेखकों के साथ साहचय का भी सुयोग मिलने स कल्पना-तत्त्व क्षीण और भाव-तत्त्व अनायास ही प्रगाढ हो गया है। यह कहना आज कठिन है कि इस नकटय से केवल लाभ ही लाभ हुआ वयक्तिक सबध के विकास के साथ साथ साहित्यिक सबध का ह्रास अवश्यभावी था और जहाँ व्यक्ति की गरिमा इस क्षतिपूर्ति में असफल रही वहाँ तो हानि ही अधिक हाथ लगी है।

नवीन जी इस दूसरे वग मे ही आते थे। पिछले सात आठ वर्षो से पूज्य दद्दा—राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के माध्यम से उनके साथ पारिवारिक सबध-सा हो गया था, व केवल कवि नवीन न रहकर दादा नवीन बन गये थे। फिर भी उनके साथ वैयक्तिक सबध की स्थापना से साहित्यिक सबध की विशेष क्षति नहीं हुई थी। इसके दो कारण थे एक तो यह कि उनका अधिकाश साहित्य अप्रकाशित ही था इसलिए व्यक्तिगत परिचय से पूव काव्य का परिचय भी अधिक घनिष्ठ नहीं था, अत प्रत्यक्ष सपक से उनके कवि-रूप का साक्षात्कार भी बढ़ा ही। दूसरे उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता थी कि उसका आकषण दूरी मे नहीं वरन् सामीप्य मे ही निखरता था। आज वे इस ससार में नहीं हैं—दिल्ली की साहित्य-सभाओं में दद्दा के घर की सान्ध्य-गोष्ठियों

पडता है कि अनुसधाता ने अपने प्रबन्ध म आलोचन क्षमता का परिचय दिया है। सत्य शोध के तीन सस्थान हैं—तथ्य सग्रह विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार म परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि सम्भव नहीं है और विचार को प्रतीति म परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नही। तथ्य को विचार रूप दने के लिए भावन की आवश्यकता पडती है और विचार को प्रतीति में परिणत करने के लिए दशन अनिवाय है—और ये दोनो ही साहित्यालोचन के अतरग तत्व हैं। अत उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय मे निर्भ्रान्त रहना चाहिए।

इसलिए मेरे तरुण मित्रो! आप शक्ति और साधन के अनुसार अपने गतव्य का निर्धारण कर लें। आपकी दृष्टि यदि व्यावसायिक है तो सामान्य अज्ञात या अधज्ञात कवि लेखक क वरदान से ही तथ्यान्वेषण के द्वारा उपाधि मिल जाएगी, यदि अपनी प्रतिभा के प्रति आप जागरूक हैं और आपकी मनस्विता निम्नकोटि की सफलता से सतुष्ट नहीं हो सकती तो आपको अपनी आलोचन शक्ति को आँजना और माँजना होगा जिससे कि आप तथ्यों की व्यजना को समझ और समझा सकें, और इससे भी आगे बढकर यदि आप अनुसधान के क्षेत्र म अमर उपलब्धि करना चाहते हैं तो निरतर साधना के द्वारा साहित्य दशन की क्षमता का विकास करना होगा।

प्रवृत्तियो को भी अप्रत्यक्ष रूप मे इससे बल मिला। 'नवीन' जसे उग्र राष्ट्रवादी कवि की क्रातिमयी वाणी, जो छायावाद के सौरभ श्लथ रेशमी परिवेश म कुछ असामयिक सी प्रतीत होने लगती थी, इस उत्तेजित वातावरण म फिर से हुकार उठी। इस प्रकार यह 'नवीन' की कविता का पुनर्जीवन-काल था। नये मूल्यो का प्रचार करने वाले आलोचक उनकी रचनाओ के प्रचुर उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार आदोलन के पक्ष म नही था—काव्य के सुस्थिर मूल्यो मे विश्वास होने के कारण उस प्रचारात्मक या प्रचार प्रेरित साहित्य के प्रति मेरे मन म एक प्रकार का अनादर भाव था। परन्तु 'नवीन' जी की कविताओ ने मुझे अनायास ही आकृष्ट कर लिया क्योकि उनका उत्साह और उनकी उत्क्राति सहज अनुभूत और जीवन्त थी। भारत के युग-जीवन मे प्रवाहित विद्युत् धारा का उनको ज्वलन्त अनुभव था। अत चाहे वे गाधी का प्रशस्ति गान करें या उनकी पराजय नीति के विरुद्ध आक्रोश की अभिव्यक्ति या उद्दाम शृगार का उद्गीथ, उनकी वाणी अनिवायत प्राण रस से अभिषिक्त रहती थी। इस प्रकार उनका काव्य सहज रसमय काव्य था—कोरा सिद्धान्तवाद नही।

अपने सचेत आलोचक मन मे कुछ इसी प्रकार की धारणाएँ लेकर मैं अलमस्त यौवन के उस कवि का व्यक्ति-दर्शन करने गया। उस समय तक मैं पत के अतर्बाह्य-एक सौम्य मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पक म आ चुका था, निराला की मुक्तकुतल विराट पुरुष मूर्ति के अभिभूत करने वाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था, महादेवी की कविता के रसभीने रगो और उनके व्यक्तित्व एव वेशभूषा की सादगी के बीच सामजस्य स्थापित कर चुका था, अपनी सहज सामान्यता मे असामान्य गुप्त बन्धुओं के व्यक्ति भेद को मन और बुद्धि की आँखो से अलग अलग कर देख चुका था। पर आज मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बठा था। इस कवि की शरीर-सम्पत्ति आकषक थी, उसे देखकर अनायास ही कामायनी की पक्तियों का स्मरण हो आया—

'अवयव की दृढ़ मास पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीय अपार
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का होता था जिनमे सचार'

ऐसा नहीं था कि वे अपनी इस शरीर-सम्पत्ति से अवगत न हो—किन्तु उनके मन की मस्ती इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति विशेष ध्यान देन म असमथ थे। उनके घुंघ अलक-जाल की सँवारी हुई बकिमा जहाँ इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरुचि की भावना से सवथा मुक्त नही है वहाँ उनका घुटना तक का जाँघिया इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा था

वह तेजोदीप्त दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी थी और मन के भावों की निखिल व्यंजना केवल 'हरे राम' में सिमटकर रह गयी थी। कवि दिनकर ने अभिनंदन-पत्र पढ़ा जिसमें कवि, योद्धा और मनीषी का एकत्र स्तवन था। दिनकर की ओजस्वी वाणी से वातावरण कुछ बदला—अभिनन्दन के अनुरूप ओज का संचार हुआ, किन्तु जिस समय वे अभिनन्दन-पत्र समर्पित कर चरण-स्पर्श के लिए झुके, नवीन जी की अवरुद्ध भावुकता सहसा द्रवीभूत हो गई। इस घटना का प्रभाव दुर्निवार था—सभी की आँखें छलछला उठीं दद्दा—श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने आपको न सँभाल सके अन्य वरिष्ठ जन भी विचलित हो उठे। हिन्दी के साहित्यिक जीवन में यह एक अपूर्व घटना थी। हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य की तीन विकास-रेखाएँ मानो एक भाव-बिन्दु पर आकर अनायास ही मिल गई थी। दिनकर के बाद अनेक वक्ताओं ने श्रद्धांजलियाँ अर्पित की—किन्तु करुणा का वह झीना पट हट नहीं सका वरन् और भी गाढ़ा हो गया जबकि स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने आवेश में आकर यह प्रार्थना की कि भगवान् उनकी आयु का कुछ अंश नवीन जी को प्रदान कर दे। भगवान् ने कदाचित् उनकी प्रार्थना का पूर्वार्ध ही सुना—और आचार्य जी की आयु सचमुच नवीन जी से पूर्व ही निश्शेष हो गयी।

३ (महायात्रा)

अन्त में है कवि की महायात्रा का करुण दृश्य। जैसा कि श्री दिनकर ने अपने मार्मिक संस्मरण में लिखा है नवीन जी के जीवन के अन्तिम तीन वर्ष मृत्यु के साथ निरन्तर संघर्ष में बीते। अनेक भीषण रोगों ने मिलकर उनपर प्रहार किये—हृद्रोग, रक्तचाप पक्षाघात, और अन्त में कदाचित् फेफड़े का कैंसर। आरम्भ के प्रहारों को तो उन्होंने अपने सहज युयुत्सु भाव से झेला किन्तु पक्षाघात ने जब उनकी वाणी को कुण्ठित कर दिया तो मुझे लगा कि उनका मन भी हारने लगा। वाणी और अर्थ का कितना अविच्छिन्न सम्बन्ध है, मन ही वाणी को प्रभावित नहीं करता, वाणी भी मन पर अनिवार्य प्रभाव डालती है। काव्यशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में मेरा यह अपना विषय रहा है, स्वदेश विदेश के अनेक आचार्यों ने गंभीर तर्कों के द्वारा इस तथ्य की प्रामाणिक स्थापना की है। बुद्धि द्वारा गृहीत यह सत्य नवीन जी को देखकर अनायास ही मेरे घट में उतर गया। अभिव्यक्ति का अभाव उनके मन में एक विचित्र प्रकार की घुमड़न और कुंठा पैदा करने लगा और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि वाणी अब नहीं लौटेगी तो पहली बार उस योद्धा ने जैसे

मृत्यु के सामने हथियार डाल दिये। रोग के तीसरे आक्रमण के बाद मित्रों के कुशल प्रश्न के उत्तर म फिर वे यही कहते थे—'हाँ भाई, कुछ है नही।" हिन्दी ससार मे नवीन जी को वाणी का अपूव वरदान प्राप्त था—वसी वाग्मिता, वह स्वर-सपदा, कठ की वह ऊर्जा अयत्र दुलभ थी। मैंने एक बार एक विराट सभा म हिन्दी की गरिमा पर उनका भाषण सुना था—प्रधानमत्री के कुछ वाक्यों से सहसा वे उत्तेजित हो उठे थे। ऐसा लगता था जसे पाटलिपुत्र की जाह्नवी म बाढ आ गई हो। इस प्रकार के और भी कई चित्र मेरी स्मृति में भास्वर थे। ऐसी भूमिका म जब मैं उह असहाय होकर शब्दो के साथ जूझकर बार बार हारते देखता था तो मन को बडी चोट लगती थी। उनका मन रखने के लिए हम लोग भी कभी कभी उसी प्रकार बोलने का अभिनय करते थे तो वे बड जोर से हँस पडते थ। एक बार 'भारती-सगम' की विचार-गोष्ठी में 'साहित्यिक' की परिभाषा के विषय म कुछ विवाद हो गया। मैंने अपने मत को कुछ अधिक उग्रता के साथ व्यक्त करते हुए कहा—'मुझे सदेह है कि विनोबा जी की रचनाएँ भी शुद्ध साहित्य की परिधि म आ सकेंगी या नहीं ?' यह सुनकर वे एकदम भडक उठे और बोले—तुम तुम सु क्या बक ते हो।' अपने जीवन के अन्तिम वष म, अभिव्यक्ति के अभाव में, आवेश की मात्रा उनम और भी बढ गई थी—कभी कभी वे दद्दा पर भी, जिनका कि वे आते जाते नियमित रूप स चरण-स्पश करत थे, बिना किसी कारण के नाराज हो जाते थे। परन्तु उनका यह क्रोध रौद्र का स्थायी न रहकर तब तक करुण का सचारी बन चुका था और हम सभी न उनसे विवाद न करने का सकल्प कर लिया था। धीरे धीरे हमारी प्रतिक्रिया उनके आवेश को देखकर बहुत कुछ वसी ही होने लगी थी जसी कि किसी बालक के आवेश को देखकर उसके परिजनों के मन म होती है। गोष्ठी म उनकी आवेश रुद्ध वाणी को सुनकर हम सब लोग हँस पडे और वे भी यह कहते हुए बठ गये—'यह बडा बेव कूफ है।'

रोग का अन्तिम आक्रमण उनको लेकर ही गया। वे कई महीन विलिंगडन अस्पताल म रहे। हम लोग नियमित रूप से उनके पास आते-जाते रहते थे। बीच में वे कुछ ठीक भी हुए परन्तु प्रयत्न करने पर भी अस्पताल से बाहर नहीं आये। कोई एक महीने स उनकी हालत ज्यादा बिगडने लगी और मुख तथा शरीर के अय अगो पर शोथ के लक्षण प्रकट हो गये। एक दिन रात को जब मैं गया तो बोने कि अब तो चल चलाव के दिन हैं। मैंने अपन और उनके मन को ढाढस देने का निष्फल प्रयत्न किया और कुछ देर बाद लौट आया। उस

दिन रात को मुझे नींद नहीं आयी। उनके जीवन से संबद्ध अनेक स्मृति चित्र, अपने परिवार में कुछ उसी प्रकार के करुण दृश्य, एकाध परिजन के स्वास्थ्य के विषय में अनेक आशंकाएँ तरह-तरह के भयावह रूप धारण कर मेरी चेतना को त्रास देती रहीं। फिर मैं अस्पताल नहीं गया—२९ अप्रल '६० को अपराह्न में उनके घर ही पहुँचा—नवीन जी के नहीं, नवीन जी के शव के दर्शन करने के लिए। उनका शव ५, विंडसर प्लेस में उनके चिरपरिचित निवासस्थान के बरामदे में रखा था। देश के मूर्धन्य नेता अपने उस अभिन्न सहकर्मी के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए आ-जा रहे थे—राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, गृहमंत्री आये। कुछ देर तक अवसन्न मुद्रा में शव के सामने खड़े होकर फिर उनके संस्कार के विषय में आवश्यक निर्णय करने के लिए घर के भीतर चले गये। बड़े लोग जब हट गये तो श्री जगदीशचंद्र माथुर के साथ मैं आगे बढ़ा। प्रयत्न करने पर मैंने नवीन जी का चरण-स्पर्श तो कर लिया किन्तु उनके मुख की ओर देखने का मेरा साहस न हुआ। सामान्यतः मुझे अपने सुख-दुःख की सार्वजनिक अभिव्यक्ति अच्छी नहीं लगती और मैं ऐसे अवसर को या तो बचा जाता हूँ या संयम से काम लेता हूँ। किन्तु इस समय मेरे लिए इन दोनों में से कोई भी विकल्प संभव नहीं था और मैंने अपने मन में कहा कि मानव होकर मानव-दुर्बलता की स्वीकृति से क्या डरना।

कुछ समय में ही यह निर्णय कर लिया गया कि नवीन जी का अन्तिम-संस्कार उनकी कर्म भूमि कानपुर में होगा। इस विषय में कदाचित् कुछ मतभेद था जो परिजनों की परिधि से बाहर निकलकर मित्र मंडल तक फैल गया था। मेरी अपनी धारणा थी कि यह आन्तरिक प्रश्न है जिसका समाधान नवीन जी के परिवार को ही करना चाहिए किन्तु कुछ मित्रों का आग्रह था कि नवीन जी का व्यक्तित्व सार्वजनिक है इसलिए उनके अन्तिम-संस्कार के प्रश्न का समाधान भी सार्वजनिक होना चाहिए। स्थिति को देखते हुए मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था, तभी, सौभाग्य से, समर्थ व्यक्तियों ने शीघ्र ही निर्णय कर यह घोषणा कर दी कि रात को आठ बजे की गाड़ी से कवि का शव कानपुर के लिए प्रस्थान करेगा। अपने को अनधिकारी मानते हुए भी मेरे मन ने कहा कि निर्णय ठीक ही हुआ और मैं ६, नार्थ एवेन्यू चला गया। गुप्तजी इसके कुछ पहले ही भीषण रोगग्रस्त हो चुके थे। उस समय स्वयं रुग्ण होते हुए भी नवीन जी ने उनकी परिचर्या में बड़ी भाग दौड़ की थी। डाक्टरों का अब भी यही आदेश था कि जहाँ तक हो उन्हें शरीर और मन के श्रम से बचाया जाये। इसलिए अनेक मित्रों और स्वजनों की राय थी कि दद्दा स्टेशन न जायें। मुझको

भी उनके स्वास्थ्य की चिन्ता किसी से कम नहीं थी, किन्तु फिर भी यह बात मेरे मन म नहीं बैठती थी कि नवीनजी की उस अन्तिम विदा वेला मे मैथिलीशरण गुप्त उपस्थित न हों। मेरे अतिरिक्त एक व्यक्ति और था जो मेरी ही तरह सोच रहा था पर कह नहीं पा रहा था—वह था गुप्तजी का आत्मज चिरजीव उर्मिलाचरण जिसका नवीन जी के प्रति अगाध अनुराग था। उसने तुरन्त ही अलग ले जाकर मुझसे कहा—'डाक्टर साहब, क्या यह ठीक है ?' उसके इस प्रश्न से मेरे मन की दुविधा एक क्षण मे विलीन हो गई और मैंने आश्वस्त होकर उत्तर दिया—'नहीं, दद्दा को वहाँ चलना चाहिए।' दद्दा बेचारे बेबस होकर मित्रों का वह सत्परामर्श सुन रहे थे। ज्योही मैंने अपना मत व्यक्त किया, फडककर बोल—'बिल्कुल ठीक है—हम जाना चाहिए और हम जायेंगे। सात बजे हम लोग स्टेशन पहुँच गए। दिल्ली का अपार जन समुदाय स्टेशन पर उमड पडा था। छोटे बडे सभी साहित्यकार, हिन्दी सेवी अनेक राज-पुरुष और राजनीतिक नेता आदि तो थे ही, इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक अनजाने व्यक्ति भी वहाँ खडे रो रहे थे जिनका न साहित्य से सम्बन्ध था, न संस्कृति से, न राजनीति से—जो केवल मानव होने के नाते नवीन जी के आत्मीय बन गये थे। फूलों से लदा नवीन जी का अस्थि शेष शरीर गाडी के डिब्बे मे रख दिया गया। समवेत जन एक एक कर उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने लगे और जब गाडी के चलने म थोडी देर रह गयी तो हम लोगो ने सहारा देकर गुप्तजी को डिब्बे म चढ़ाया। वे दो क्षण मौन हुये—कदाचित् उसी समय उनकी कवि चेतना मे निम्नलिखित पक्तियो का मूल भाव स्फुरित हो गया था—

> कहाँ आज वह मधु हमारा,
> जिसके मानस की रस धारा,
> आप्लावित करती थी हमको।
> उससे श्रद्धांजलि की आशा
> रखती थी मेरी अभिलाषा
> अनहोनी ही प्रिय है यम को।

हम लोगों ने भी अन्तिम बार उनकी पद-वदना की और कुछ ही देर म गाडी पटरी पर रेंग उठी। सारा प्लेटफार्म नवीन जी के जय-जयकार से गूज उठा।

नवीन जी आज कीर्ति शेष रह गय हैं। समय ने उनके विरह का घाव भी बहुत कुछ पूर दिया है। अभी कुछ दिन पहले उनके विषय म चर्चा हो रही थी। एक भावुक मित्र ने उनके जीवन-काल में ही कहीं लिखा था कि वे महा-

मानव थे। इस पर एक सूक्ष्म-दर्शी आलोचक ने मध्यम प्रश्न किया कि क्या मानव चरित्र के एक भी दोष से वे मुक्त थे ? आज मैं सोचता हूँ कि वस्तु सत्य क्या है और मेरा हृदय ही नहीं बुद्धि भी यह उत्तर देती है कि इन दोषों के अभाव में तो वे मानव ही न रहते। चिन्मय आत्मा के सम्पूर्ण गुणों के साथ मृण्मय प्रकृति के समस्त दोषों के समवाय का नाम है मानव—और यदि महा मानव का अस्तित्व इस संसार में है तो वह सर्वांग मानव का वृहत्तर या महत्तर रूप ही हो सकता है, दोष मुक्त अपूर्ण मानव का नहीं। मैं महामानव का इससे अधिक शुद्ध लक्षण नहीं कर सकता—और ऐसे व्यक्ति मैंने अपने जीवन में कम ही देखे हैं, जिन पर यह लक्षण नवीन जी की अपेक्षा अधिक सटीक बैठता हो !

रेडियो में पंत जी का आगमन

सन् ४९ ५० की बात है। उन दिनों हिन्दी में भी आकाशवाणी का नाम आल इंडिया रेडियो ही था—अधिकारियों का तर्क था कि आल इंडिया रेडियो व्यक्तिवाचक संज्ञा है और उसका अनुवाद उसी तरह नहीं किया जा सकता जिस तरह किसी व्यक्ति के नाम का। भारत को स्वतंत्र हुए दो वर्ष हो चुके थे किन्तु हिन्दी को अभी तक उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका था—अतः हिन्दी लेखकों की ओर से रेडियो विरोधी आंदोलन चल रहा था, तभी हिन्दी के परिचित कवि श्री बालकृष्ण राव की उपमहानिदेशक के रूप में नियुक्ति हुई। श्री राव का मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं था—मैंने उनकी कुछ कविताएँ पढ़ी थीं और उन्होंने कदाचित् मेरे कुछ लेख देखे पढ़े थे। रेडियो में भी मेरा उनका सीधा सम्पर्क नहीं था, क्योंकि हिन्दी का कार्य औपचारिक रूप से पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी सँभालते थे—और वे भी शीघ्र ही अवकाश ग्रहण करने वाले थे। एक दिन सहसा अपराह्न में राव साहब ने टेलीफोन कर मुझे बुलाया और कहा कि आपसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गोपनीय विषय पर परामर्श करना है। मिनिस्टरी चाहते हैं कि हिन्दी-कार्यक्रम का संचालन करने के लिए किसी चोटी के कलाकार को लाया जाय—आप कुछ नाम बताइए। मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था फिर भी दो चार मिनट सोचने के बाद मैंने उत्तर दिया—'हिन्दी के कलाकारों में आदर्श नाम तो पंत जी का है किन्तु उनको राजी करना सरल नहीं होगा—हो सकता है संभव ही न हो—और दूसरा नाम हो सकता है ।"

"दूसरे नाम की आवश्यकता नहीं है, पंत जी से ही श्रीगणेश किया जाय। आप कल ही इलाहाबाद चले जाइए और देखिए इस सम्पूर्ण प्रसंग को अपने तक ही रखिए। यदि इस प्रयत्न में सफलता मिल जाती है तो यह हिन्दी और रेडियो दोनों की बड़ी सेवा होगी।"

अगले दिन रात की गाड़ी से चलकर मैं तीसरे दिन इलाहाबाद पहुँचा। पंत जी उन दिनों टगोर टाउन में रहते थे—उनकी ममेरी बहिन कल्याणीयों

दाता जोशी भी साथ म थी। मैं कई वप बाद पत जी से मिला था वही सौम्य स्निग्ध दृष्टि—कुछ चकित-सी, परिचित वेश भूषा स युक्त रमणीय कवि रूप, ऐसा लगता था जसे कशोय यौवन के द्वार से ही लौटकर प्रौढि मे प्रवेश कर चुका हो, प्रगतिवाद के रुक्ष प्रभाव से कवि का अन्तर्बाह्य मुक्त हो चुका था।

सामान्य कुशल प्रश्नादि क बाद पत जी बोले—इलाहाबाद कसे आये हैं ? मैंने कहा—आपके ही पास आया हू और ऐसे काम से आया हूँ जिसका अनुमान आप लगा नही सकते। इतना कहकर मैं थोडा झिझका—मैं शायद पत जी के जीवन म पहली बार नौकरी का प्रस्ताव करने जा रहा था। उसक औचित्य पर मुझे सदेह होने लगा मानो मैं कोई अभद्रता कर रहा हू। उधर, पत जी की सहज-चकित दृष्टि मे कुतूहल का भाव सहसा स्पष्ट हो आया। मैंने कहा—पत जी, मुझे आल इडिया रेडियो के डिपुटी डायरेक्टर जनरल श्री बालकृष्ण राव ने भेजा है। रेडियो पर हिन्दी के कायक्रम का सगठन और विकास करने के लिए उनकी और हम सबकी इच्छा है कि आप इस दायित्व को स्वीकार कर लें। मुझे पूर्ण आशका थी कि पत जी तुरत हो इस प्रस्ताव का अस्वीकृत कर देंगे—और मैं इसके लिए तयार था। परन्तु ऐसा नही हुआ—पत जी इस प्रसग मे कुछ प्रश्न करन लगे और मैं एक प्रकार के सुखद आश्चय के साथ उत्साहपूवक उनका उत्तर देने लगा। फिर बोले—अच्छा मुझे आज रात को सोचने का समय दीजिए, मैं कल आपको उत्तर दूँगा। कल आप जल्दी आ जाइए—चाय यही पीजिए।

दूसरे दिन मैं लगभग ६ वजे पत जी के बँगले पर पहुँच गया। पहुँचने के कुछ समय बाद ही वे बोले—ठीक है मैं इस कार्य को कर लूगा। मेरी पहली प्रतिक्रिया स्वभावत कृतकायता की ही थी—अन्य तक वितर्कों के लिए उत्तेजना की उस स्थिति म विशेष अवकाश ही नही था। पूव निर्धारित योजना के अनुसार मैं रेडियो स्टेशन से श्री राव को टेलीफोन करने चल दिया। यद्यपि इस समय भी प्रसन्नता का भाव ही सर्वोपरि था, फिर भी मेरे चिन्ताशील मन में कुछ सदेह उठने लगे—क्या रेडियो के अधिकारी पत जी का उचित गौरव समझ सकेंगे ? वहाँ की जड औपचारिकता से कहीं पत जी के अतिशय सस्कृत मन को आघात न पहुँचे ? सामान्यत रेडियो के अधिकारी शिष्टाचार मे त्रुटि नही करते थे—मेरा अपना अनुभव बुरा नहीं था। फिर भी मैं अपने मानका का उपयोग पत जी जसे अत्यन्त सवेदनशील व्यक्ति के लिए कसे कर सकता था ? और क्या पत जी रेडियो के उलझे हुए काम को सँभाल सकेंगे—उन्होंने

तो कभी इस प्रकार का काम नहीं किया ? इन्ही विचारो मे निमग्न मैं रेडियो-स्टेशन आ पहुँचा। उन दिनों श्री मूर्ति वहाँ के स्टेशन-डायरेक्टर थे—मैं और वे एक दूसरे को केवल नाम से जानते थे—साक्षात्कार के बाद ही मैंने उनसे कहा कि मैं एक गोपनीय काम से इलाहाबाद आया हूँ और श्री सी० बी० राव को तुरत ही ट्रक कॉल करना चाहता हूँ। कॉल बुक की गई। पर मेरे सामने एक नई उलझन आ गई—श्री मूर्ति के सामने मैं राव साहब से गोपनीय वार्ता कसे कर सकूगा उनके ही कमरे में उनसे यह कहना कि आप थोडी देर के लिए बाहर चले जाइए बडी हिमाकत होती। साथ ही उनको विश्वास में लेने का मुझे अधिकार प्राप्त नही था। और, न मैं स्वय ही इस विषय मे आश्वस्त था कि उनका हिन्दी के विषय मे क्या रुख है। इतने ही मे कॉल मिल गई। खर मैंने बडी सावधानी के साथ सवनामो का प्रयोग करते हुए श्री राव को स्थिति से अवगत करा दिया। स्वभावत वे बडे प्रसन हुए और बोले—बडा काम किया आपने। वहाँ का काम तो हो गया किन्तु इधर मेरे मन म ग्लानि हो रही थी क्योकि श्री मूर्ति जसे सदाशय अधिकारी के प्रति प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास व्यक्त कर मैंने निश्चय ही अभद्रता की थी। फिर भी उस समय मैंने उनसे क्षमा-याचना नही की क्योकि उससे तो स्थिति और भी बिगड जाती—थोडी देर इधर उधर की बातें कर लौट आया।

दिल्ली आकर मैंने अपनी वार्ता का पूरा विवरण बालकृष्ण जी को दिया—तब तक वे सक्रेटरी श्री पी० सी० चौधरी से विचार विनिमय कर चुके थे। श्री चौधरी के मन म भारतीय सस्कृति और सस्कृत साहित्य के प्रति अ तीम अनुराग है—हिन्दी के प्रति एक प्रकार के ममत्व की भावना उन्हें अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधुरानी से सस्कार रूप मे प्राप्त है। तात्कालिक परिस्थिति के कारण उनकी अपनी परिसीमाएँ थीं, परन्तु वे निश्चय ही हिन्दी के प्रचार के लिए प्रयत्नशील थे। पत जी की स्वीकृति मिलने पर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रसन्नता के इस वातावरण मे न जाने क्यों मेरे मन में अब भी यह शका हो उठती थी कि कहीं पतजी मना न कर दें। अतत वही हुआ—दूसरे दिन ही मेरे पास उनका पत्र आया जिसम लिखा था कि उन्होंने प० अमरनाथ झा से परामश किया था और झा साहब ने उन्हें सरकारी नौकरी की सलाह नहीं दी—उनकी अपनी भी आरम्भ से ही अनिच्छा-सी थी। मैं तुरन्त ही राव साहब के पास वह पत्र लेकर पहुँचा। स्वभावत ही वे खिन्न हुए और तत्काल सक्रेटरी महोदय से टेलीफ़ोन पर बात करने लगे। उनके वार्तालाप के कुछ अश मैं स्पष्टत सुन सकता था—सक्रेटरी के मन में एक

प्रकार की निराशा और खीझ का भाव था खीझ में उनके मुँह से निकल गया—स्ट्रेन्ज मैन ! ही रिफ़्यूज़ेज़ विकॉज़ पंडित भी सेज 'नो'। यद्यपि उनकी खीझ अस्वाभाविक नहीं थी फिर भी यह वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगा और मैं सोचने लगा कि पंत जी का निर्णय ठीक ही है। परन्तु राव साहब हताश नहीं हुए। उन्होंने तभी श्री मूर्ति के माध्यम से पंतजी के साथ सम्पर्क स्थापित किया, उनकी काफी शंकाओं का समाधान तो फोन पर ही कर दिया और आगे विचार विनिमय के लिए पंतजी को दिल्ली बुला लिया। पंतजी दो-तीन दिन बाद सवेरे दिल्ली पहुँचे। मैं रेडियो की ओर से उनको लिवाने स्टेशन गया—कई बार गाड़ी इधर से उधर देख ली पर पंतजी नहीं मिले और मैंने लौटकर श्री राव को उनके न आने की सूचना दे दी। पर कुछ ही देर में उनका टेलीफोन आया कि पंतजी आ गये हैं और सुश्री निर्मला जोशी के यहाँ ठहरे हैं। मुझे हैरानी हुई—शाम को जब श्री राव के यहाँ हम मिले तो पता लगा कि गाड़ी और गाड़ी के बाहर भीड़ अधिक थी और धूल भी कुछ ज्यादा थी, इसलिए पंत जी १५-२० मिनट अपना डिब्बा बन्द किये गाड़ी में ही बैठे रहे। उस संभाषण में पंतजी की सभी शंकाओं का समाधान हो गया—वे प्रयाग ही रहेंगे, दिल्ली वर्ष में ४-६ बार आ जाया करेंगे, दिन में घर पर ही रहकर काम की देखभाल कर लेंगे—केवल अपराह्न में रेडियो-स्टेशन जाना पर्याप्त होगा। उनके साथ काम करने के लिए एक सहायक की भी नियुक्ति हो जाएगी—रचना कार्य में कोई बाधा नहीं होगी अर्थात् अनुमति आदि का प्रतिबन्ध नहीं होगा, आदि आदि। एकाध बार हल्के स्वर में वेतन का भी प्रश्न उठाया गया, किन्तु पंतजी ने उसमें कोई रुचि नहीं दिखाई।

दूसरे दिन अपराह्न में महानिदेशक श्री लक्ष्मणन से भेंट की व्यवस्था की गई। श्री राव पहले से ही वहाँ थे मैं पंत जी को लेकर तीसरी मंजिल पर पहुँचा। कमरे में घुसते ही श्री लक्ष्मणन ने उठकर फौजी तपाक से पन्त जी से हाथ मिलाया। यह भेंट अपने आप में एक रोचक घटना थी। पंत जी ने शायद लक्ष्मणन जैसे आदमी को और श्री लक्ष्मणन ने पंत जी जैसे आदमी को जीवन में पहली बार देखा था—आकृति प्रकृति का जितना भी वपरीत्य संभव था, *वह यहाँ प्रत्यक्ष हो उठा था। श्री लक्ष्मणन ने अपनी सहज नाटकीय शैली में*[1] पंत जी से बड़े स्नेह और सौजन्य के साथ औपचारिक बातचीत की। कुछ देर

---

१ नाटकीय शब्द का प्रयोग मैं बुरे अर्थ में नहीं कर रहा किन्तु उनकी शैली के लिए मेरे पास कोई दूसरा हिन्दी शब्द नहीं है अंग्रेजी का 'लाउड' शब्द कुछ अधिक निकट होगा खुदा बख़्श बहुत-सी खूबियाँ थीं मरने वाले में।

बाद मैं पत जी के साथ उठकर आने लगा—मैं आगे दरवाजा खोलकर बाहर पहुँच चुका था, पत जी मेरे पीछे थे। इतने मे श्री लक्ष्मणन की फौजी हँसी के साथ यह वाक्य हमारे कानो मे पड़ा—'ही इज ए चाइल्ड'।

बाहर निकल कर मैंने पत जी से पूछा। यहाँ का वातावरण आपको कसा लगा—डी० जी० कसे लगे ? पत जी बोले—जबदस्त आदमी है। जब मुझसे हाथ मिलाया तो मुझे लगा कि बस अब मेरा हाथ वापस नही आयेगा। + + + लेकिन इन्होंने यह क्यों कहा 'ही इज ए चाइल्ड।' मैंने उत्तर दिया कि वह तो आपकी प्रशसा म कहा था—आपके निश्छल और सौम्य व्यक्तित्व की सराहना कर रहे थे। और, वस्तुत बात भी यही थी—फिर भी न जाने पत जी के मन म यह प्रश्न क्यों उठा। शाम हो आयी थी और मैं कार मे पत जी को लेकर डा० जोशी की कोठी के लिए रवाना हो गया। आते समय मैं रास्ता भूल चुका था, इसलिए वापसी म माग दशन का दायित्व पतजी ने अपने ऊपर ले लिया। मुझ सामा यत इसे स्वीकार नही करना चाहिए था—परन्तु अपने माग ज्ञान के प्रति अतिशय अविश्वास और पतजी के आश्वस्त स्वर के कारण मैं उनके निर्देशन पर चल दिया। परिणाम जो होना चाहिए था वही हुआ—ईदगाह के ढाल और रोहतक रोड के बीच मैं भटक गया। पत जी हर बार विश्वास के साथ कहते—नहीं-नहीं अबकी बार ठीक है, यही रास्ता है, आप चलिए भी। इसी आवतन म अँधेरा हो आया और शायद बटरी का कनक्शन ढीला हो जाने से मेरी गाडी ढाल पर रुक गई। बडी परेशानी हुई—मुझे बार बार झुझलाहट होती कि मैंने पत जी की बात क्यों मानी, बिना मशीन का थोडा सा ज्ञान जाने मैं गाडी चलाने की बवकूफी क्यों करता हूँ ? कई बार मैंने कुछ राहगीरो की सहायता से गाडी को ढाल पर ले जाकर स्टाट करने की कोशिश की। पत जी को कष्ट हो रहा था, इसकी मुझ चिन्ता थी—व बचारे सहायता भी क्या करते मैंने उनस कहा कि आप एक ओर खडे हो जाइए मैं किसी ड्राइवर की सहायता से गाडी अभी चालू कर लूगा और मैं इधर उधर किसी जानकार आदमी की खोज करने लगा। इतने ही में पत जी ने आवाज दी—डाक्टर नगेन्द्र, आप यहाँ आइए मैं बताऊँ। मैंने समझा पतजी ने गाडियो का काफी प्रयोग किया है, सम्भवत मशीन के बारे म थोडा-बहुत जानते हों। मैं आशा के साथ उनकी ओर बढ़ा तो कहने लगे— देखिए आप इस गाडी को बेच दीजिए और नई ल लीजिए। फिर कभी गडबड नहीं होगी।' मैं काफ़ी परेशान हो चुका था, इस नेक सलाह को सुनकर खीझ उठा। मुझे लगा कि पत जी को बेवक्त यह क्या मज़ाक सूझा। पर वास्तव म पत जी के चेहरे पर हँसी का काई निशान ही नहीं

था। मुझे ही हँसी आ गई और मैं मन ही मन कहने लगा—'ही इज ए चाइल्ड'।

+ + +

रेडियो मे पत जी ने अपने जीवन के कतिपय वर्षों म इस मधुर सत्य का उत्साहपूवक निर्षेध किया। उनके व्यक्तित्व की इसी 'अबोध पावनता' के कारण अनेक मित्र अत्यन्त सद्भावपूवक यह शका करते थे कि यह निर्वाचन ठीक नहीं हुआ। किन्तु विगत दशक में भारतीय प्रसारण का इतिहास साक्षी है कि यह शका सवथा निमूल थी पत जी के ज्योति-स्पश से रेडियो का वायु मण्डल एक स्निग्ध-स्वर्णिम प्रकाश से दीपित हो उठा। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम के साथ आकाशवाणी के कायक्रम का सस्कार-परिष्कार किया और उसे भारतीय सस्कृति का उपयुक्त माध्यम बनाने म अपूव योगदान किया।

गिरिजाकुमार माथुर

सन् १६३६ म कामायनी का प्रकाशन हुआ—और '३७ मे प्रसाद जी का स्वगवास। लगभग इसी समय से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। उन्ही दिनों पत जी के सम्पादन में 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ जो नवीन काव्य चेतना की अभिव्यक्ति का कदाचित् पहला माध्यम बना। 'रूपाभ' मे भावप्रवण छायावादी रचनाएँ नहीं छपती थी—पत जी के नाम से आकृष्ट होकर छायावाद से प्रभावित जो कवि अपनी रचनाएँ भेजते थे, उनसे अत्यत शिष्ट भाषा म—पत जी और नरेन्द्र की अपनी मीठी भाषा मे क्षमा माँग ली जाती थी। 'रूपाभ' शब्द केवल नाम ही नहीं था—नवीन चेतना का प्रतीक भी था। उसमे यह व्यजना स्पष्ट थी कि छायावादी 'आभा' नवीन युग में सौन्दय-बोध को व्यक्त करने म असमथ हो चुकी है—नया युग केवल 'आभा' नहीं उसके साथ 'रूप' की भी माँग कर रहा है। अत छायावाद के अमूत्त सौन्दय के स्थान पर मूत्त सौन्दय काव्य का विषय बना—भाव के तारल्य के स्थान पर वस्तु की दृढ़ रूपरेखा सौन्दय का प्रतिमान बनी। अंग्रेजी काव्य में इससे काफ़ी पहले इसी प्रकार की घटना हो चुकी थी—वहाँ भी तीन-चार आत्मविश्वासी बिम्बवादी कवियों ने निजी तौर पर सगठन कर रोमानी प्रवृत्ति का अत करने का निश्चय किया था और अपने निश्चय को मूर्तित करने के लिए निम्नलिखित उद्देश्य-पत्र प्रकाशित किया था

(१) जन-साधारण की भाषा का प्रयोग करना—किन्तु सदव एकांत उपयुक्त (एग्ज़क्ट) शब्द का ही प्रयोग करना, न तो उपयुक्तप्राय शब्द का प्रयोग और न केवल अलकृत शब्द का।

(२) नई मनोदशाओ की अभिव्यक्ति के लिए नई लयों की सृष्टि करना—और पुरानी लयों का अनुकरण न करना क्योंकि वे तो पुरानी मनोदशाओं की प्रतिध्वनि-मात्र हैं। हमारा यह आग्रह नहीं है कि मुक्त छद ही काव्य रचना का एक मात्र माध्यम है। हम तो इसके लिए उसी प्रकार सघष करते हैं जिस

प्रकार स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के लिए। हमारा यह विश्वास है कि कवि का वैशिष्ट्य रूढ़ छंदों की अपेक्षा मुक्त छन्द में अधिक सफलता से अभिव्यक्त हो सकता है। *कविता में नई लय का अर्थ है नया भाव।*

(३) विषय निर्वाचन में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करना। वायुयान और मोटरकार आदि के विषय में फूहड़ रचनाएँ सुन्दर कला का निदर्शन नहीं मानी जा सकती और न अतीत विषयक सुन्दर रचनाएँ अनिवार्यतः कुकवित्व की ही परिचायक होती हैं। आधुनिक जीवन के कलात्मक महत्त्व में हमारी प्रबल आस्था है किन्तु हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि १९११ में निर्मित वायुयान से अधिक निष्प्रभाव और पुराने ढंग की चीज दूसरी नहीं है।

(४) बिम्ब प्रस्तुत करना (इसीलिए बिम्बवादी नामकरण हुआ है)। हम चित्रकला के किसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि नहीं हैं किन्तु हमारा यह विश्वास है कि कविता में विशेष पदार्थों का यथावत् प्रत्यंकन होना चाहिए न कि अस्पष्ट सामान्य धारणाओं का चाहे वे कितनी ही भव्य और मधुर क्यों न हों। इसी कारण हम भूमावादी (कास्मिक) कवि का विरोध करते हैं क्योंकि हमें लगता है कि वह अपनी कला की वास्तविक कठिनाइयों से बचने का प्रयास करता है।

(५) ऐसी कविता की रचना करना जिसकी रूपरेखा दृढ़-कठोर और स्पष्ट हो—कहीं भी आविल और अनिश्चित न हो।

(६) अंत में, हममें से अधिकांश का यह मत है कि एकाग्रता कविता का प्राण है।

—एक वाक्य में भावना की तरलता के स्थान पर नवीन चेतना वस्तु की दृढ़-स्पष्ट रूपरेखा के लिए आग्रह कर रही थी।

छायावाद के विरोध में हिन्दी में कवियों के तीन वर्ग उभर कर सामने आए १—बच्चन और उनके समसामयिक गीतकार जिन्होंने छायावाद के व्यक्ति तत्त्व को तो आग्रह के *साथ ग्रहण किया किन्तु उसके रहस्यमय वायवीय* और अमूर्त रूप का निषेध कर वास्तविक जीवन की सुख-दुःखमयी अनुभूतियों को प्रत्यक्षतः काव्य का विषय बनाया और उधर काव्य शिल्प में प्रतीक तथा लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शब्दावली के आवरण हटा जीवन के परिचित बिम्बों तथा सीधी भाषा का प्रयोग आरम्भ किया। २—*सामाजिक* चेतना के प्रति आग्रहशील कवि जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में अपना आदर्श प्राप्त कर छाया वाद की अवैयक्तिक चेतना को उसके मूर्त अमूर्त, प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी रूपों में अनादृत कर भौतिक-जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्न शील थे—और उसी के अनुरूप जन भाषा तथा जन जीवन के सहज बिम्बों का

ग्रहण करना चाहते थे—पारिभाषिक शब्दावली मे ये कवि प्रगतिवादी कहलाये, ३—प्रयोगवादी कवि जो छायावाद की वयक्तिकता को हृदय के स्थान पर बुद्धि के धरातल पर स्वीकार कर आधुनिक जीवन के अनुरूप एक नवीन सौंदर्य बोध का दावा कर रहे थे और उसकी अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए आधुनिक जीवन के नवीन उपकरणो को सभी प्रकार की रगीन भावनाओ के ससग से मुक्तकर मूत बिम्बरूप म अकित करने के लिए व्यग्र थे ये कवि आगे चलकर अपनी काव्य प्रवृत्ति को प्रयोगवाद के स्थान पर 'नई कविता कहने का आग्रह करने लगे।

आरम्भ में इन तीनो प्रवृत्तियो का पाथक्य स्पष्ट नही था—केवल इतना ही आभास मिलता था कि छायावाद की अमूत वायवीय काव्य चेतना अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी और उसके स्थान पर जीवन की मूत और मासल अभिव्यक्ति के लिए एक नयी काव्य-चेतना का उदय हो रहा था। गिरिजाकुमार माथुर की कवि प्रतिभा का उदय इसी वातावरण म हुआ। अत उनकी कविता म यह सभी तत्त्व सहज ही विद्यमान हैं। वे हिन्दी के अत्यत मधुर गीतकार हैं। मजीर के गीतो म उन्होने किशोर हृदय की रगीन भाव कल्पनाओ को स्वर प्रदान किया है। इन गीतो म छायावाद की रगीनी तो है किन्तु इनकी भाव-वस्तु वायवीय नही है इनका आलबन किशोरभाव की प्रधानता के कारण कल्पनागम्य भले ही हो किन्तु कल्पना-जात नही है। वह दूरस्थित अवश्य है किन्तु यह दूरी उसके आकषण की वृद्धि करने के लिए ही है, उसको रहस्यमय या अगम्य बनाने के लिए नहीं। इस प्रकार इन गीतों म छायावाद की आभा को इस नये कवि ने रूप प्रदान किया है। उस समय और भी कवि छायावाद की आभा को मासल रूप देन का सफल असफल प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु कही तो आभा की तरलता मूत बिम्बो की पकड मे नही आती थी और कहीं रूप ही अधिक मासल बन जाता था। गिरिजाकुमार के गीतों म रूप और आभा का समन्वय पहली बार मिला। 'मजीर' के गीत 'नाश और निर्माण' के गीत और कुछ परवर्ती गीतिमयी रचनाएँ भी हमारी उपयुक्त स्थापना की पुष्टि करेंगी।

कौन थकान हरे जीवन की?
बीत गया सगीत प्यार का,
रूठ गई कविता भी मन की।
वशी में अब नींद भरी है,
स्वर पर पीत साँझ उतरी है।

बुझती जाती गूंज आखीरी
इस उदास वन पथ के ऊपर
पतझर की छाया गहरी है,
अब सपनों मे शेष रह गई
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।

रात हुई पछी घर आए,
पथ के सारे स्वर सकुचाये,
म्लान दिया बत्ती की वेला
थके प्रवासी की आँखों मे
आँसू आ आकर कुम्हलाये,

कहीं बहुत ही दूर उनींदी
झाँझ बज रही है पूजन की।
कौन थकान हरे जीवन की?

इस गीत का पहला पद रोमानी आभा से मडित है। मन की कविता का रूठना, बशी म नीद का भर जाना, स्वर पर पीली साझ उतरना और अतिम गूज का क्रमश तिरोभाव, उधर उदास वन-पथ के ऊपर पतझर की गहरी छाया का घिरना और अन्त म

अब सपनों मे शेष रह गयीं
सुधियाँ उस चदन के वन की

ये सभी रोमानी आभा के रमणीय उपकरण हैं। यदि गीत के शेष भाग में कवि ऐसे ही तरल बिम्बों का प्रयोग करता, जिनमे अनुभूति की निकटता कम और कल्पना की दूरी अधिक रहती तो यह शुद्ध छायावादी गीत होता। किन्तु दूसरे पद मे जो चित्र अकित किया गया है वह इस छायावादी दूरी को कम कर देता है। रात होने पर पछियों के घर लौटने म, पथ के कोलाहल की परिश्रान्ति में, थके प्रवासी की आँखो मे आँसुओ के भरने और सूख जाने मे, दूर मदिर में गूजने वाले आरती के स्वरों म अनुभूति का सामीप्य है जो प्रवासी के मन की उदासी को और भी भारी कर देता है। इस प्रकार छाया को आकार और आभा को रूप मिल गया है।

गिरिजाकुमार ने इन गीतो के अतिरिक्त अनेक रसमय शृगार कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं की आधारभूत अनुभूतियाँ अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत होते हुए भी मूर्त और मांसल हैं। उनमे एक ओर छायावाद की अतीन्द्रिय शृगार भावना का अभाव है और दूसरी ओर प्रगतिवाद की अनगढ स्थूलता भी नहीं

है। रूप और रस के मांसल स्पर्श परिष्कृत कल्पना के संसर्ग से अत्यंत रमणीय बन गये हैं। यह शृंगार न तो भूखे तन और भूखे मन का आहार है और न किसी अदृश्य आलंबन के साथ कल्पना विहार है—कवि ने जीवन की मधुर भावना को बड़े ही हल्के हाथों से, किन्तु पूरी गहराई के साथ, बिम्बित करने का सफल प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए कवि की एक प्रसिद्ध कविता है 'चूड़ी का टुकड़ा'

आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था,
किसी काम में जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा,
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा सा टुकड़ा,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं,
रंग भरी उस मिलन रात में।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें।
दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुये बन्धन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकड़ा।

इस कविता का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी प्रेरक अनुभूति अतीन्द्रिय या वायवी न होकर मांसल है। उसकी सृष्टि कल्पना के द्वारा नहीं की गई है अर्थात् उसमें अनुभूति की कल्पना नहीं है वरन् मधुर अनुभूति के एक लघु क्षण के ऊपर बड़ी बारीकी के साथ कल्पना की रंजित तस्वीरें अंकित की गई हैं। जिस तरह कोई शिल्पी काँच के छोटे टुकड़े पर या रत्न पर पूरा चित्र अंकित कर देता है, इसी तरह

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें।

इस प्रकार गिरिजाकुमार छायावादोत्तर गीतकारों में अपने रुचि परिष्कार तथा कल्पना की समृद्धि के कारण विशेष स्थान के अधिकारी बने और उन्होंने अर्थ के संगीत के साथ शब्द के संगीत का अपूर्व सामंजस्य कर हिन्दी गीति काव्य को निश्चय ही एक नवीन समृद्धि प्रदान की।

छायावाद के बाद हिन्दी काव्य में जिस नवीन सामाजिक चेतना का उदय हुआ उसका भी प्रभाव गिरिजाकुमार की कविता पर स्पष्ट है। किन्तु उनकी चेतना यहाँ भी संयत है। उन्होंने सामाजिक वैषम्य की पीड़ा का अनुभव किया है और उसे अपने काव्य में स्वच्छ रूप में व्यक्त किया है। इन कविताओं में मध्यवर्ग की अनुभूतियों को ही आधार बनाया गया है, इसलिए इनमें एक ओर स्वानुभूति की सचाई है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति में असंयत आक्रोश का सर्वथा अभाव भी है। मध्यवर्ग की कुण्ठाओं की कटुता इस प्रकार की रचनाओं में आ सकती थी, परन्तु कवि के अपने स्वभाव की मिठास ने यह दोष भी नहीं आने दिया। इस कथन की सत्यता का अनुभव करने के लिए 'मशीन का पुर्जा' शीर्षक कविता पढ़िए।

जैसा कि हमने अभी संकेत किया—आलोच्य कवि की प्रगति चेतना मध्यवर्ग की ही प्रगति-चेतना है। इसलिए उग्र प्रगतिवादी आलोचक उसका उचित मूल्यांकन करने में कदाचित् असमर्थ रहे हैं। किन्तु यदि वर्ग संघर्ष की भावना से मुक्त होकर विचार करें तो प्रगति चेतना वस्तुतः एक प्रकार की नैतिक चेतना है जो वर्गों में विभाजित नहीं हो सकती। वह जीवन के स्वस्थ और विकासशील तत्वों के प्रति संवेदनशील होती है और जीवन विकास में बाधक रुग्ण मनोवृत्तियों—निराशा, व कुण्ठा विषाद आदि—का विरोध करती है। जीवन का विकास वर्गबद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वर्गों में बाँटकर जीवन को देखना तो स्वयं ही रुग्ण दृष्टि का परिचायक है। इसीलिए व्यापक जीवन दर्शन का त्याग कर अपनी रूढ़ता में प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक जब प्रगतिवादी बनने का आग्रह करने लगा तो न उसने कला और साहित्य का ही हित किया और न वह स्वस्थ प्रगति चेतना का ही विकास कर सका। हिन्दी कविता में नवीन सामाजिक चेतना का समावेश करने में गिरिजाकुमार का योगदान कम नहीं है, किन्तु उन्होंने इसे व्यापक नैतिक धरातल पर ही ग्रहण किया, रूढ़ सिद्धान्तवाद के रूप में नहीं। उनके प्रायः सभी संग्रहों से इस प्रकार की अनेक कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं।

नये युग की तीसरी प्रवृत्ति है प्रयोगवाद, जिसका नाम बाद में चलकर 'नई कविता' पड़ गया। इस नई प्रवृत्ति का विकास करने में गिरिजाकुमार

का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने जिस नवीन साहित्य दृष्टि का उन्मेष किया वह केवल अध्ययन से प्राप्त नहीं थी। इस क्षेत्र में भी उनके रुचि-संस्कार सहायक हुए और उनकी कविता पूर्वाग्रह और अनगढ़ तत्वों से मुक्त रही। काव्यवस्तु के अन्तर्गत उन्होंने नवीन विषयों का चयन कर आधुनिक जीवन की कलात्मक संभावनाओं का बड़े संयम के साथ उपयोग किया। विज्ञान के नये आविष्कार और उनकी संभावनाएँ इस नये कवि की काव्य चेतना में ढलने लगीं—अणुयुग के वैज्ञानिक चमत्कारों को, अन्तरिक्ष विजय की नयी संभावनाओं को और उनके प्रकाश में मानवता के भविष्य की कल्पनाओं को साकार करने के लिए कवि ने 'पृथ्वी-कल्प' के रूप में अत्यन्त साहसिक प्रयास किया है। हमारी धारणा है कि विज्ञान के नये उपकरणों को काव्य सामग्री के रूप में प्रयुक्त करने का यह अपने ढंग का पहला प्रयास है। स्पष्ट है कि ये नये बिम्ब सर्वत्र पूरे नहीं उतर सके हैं और उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में भी हम कठिनाई होती है, इसलिए ये कल्पना और विचार को अधिक उत्तेजित करते हैं—मन के कोमल तारों को नहीं। फिर भी, हमारा अनुमान है कि नये कवि यदि अणुयुग के नवीन उपकरणों का प्रयोग करेंगे तो उन्हें बहुत कुछ ऐसी ही पद्धति ग्रहण करनी होगी। विज्ञान के महान् चमत्कारों के अतिरिक्त आज के जीवन के ऐसे सामान्य उपकरण भी गिरिजाकुमार की कविता में प्रयुक्त हुए हैं जो नित्य प्रति के व्यवहार में हमारे अत्यधिक निकट होने पर भी अभी तक काव्य-परम्परा के अंग नहीं बन पाये। उनका यह प्रयोग आयासहीन भी है और कलापूर्ण भी। अपने समसामयिक अधिकांश कवियों की भाँति वे केवल सिद्धान्त का निर्वाह करने के लिए या पाठक को चौंकाने के लिए या बरबस अपहस्य तत्त्व का समावेश करने के लिए इन उपकरणों का प्रयोग नहीं करते। उनकी चेतना अन्य कवियों की अपेक्षा सहज काव्यमयी है—उनका सौन्दर्य बोध पाश्चात्य विचारों से गढ़कर तैयार किया हुआ नहीं है। नये उपकरण नवजीवन की चेतना के साथ अनाविल सौन्दर्य भावना को मूर्तित करने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं, नये उपकरणों को जोड़कर नयी सौन्दर्य भावना का संघटित करने का कृत्रिम प्रयास यहाँ नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने कवि-व्यापार के अन्तर्गत एक विशिष्ट गुण का उल्लेख किया है और वह है वस्तु-वक्रता। इस वस्तु-वक्रता का आधार कवि की प्रातिभ दृष्टि होती है जो वस्तु के अनेक अंगों में से केवल सारवान् का चयन कर उन्हीं को अपनी आभा से दीपित कर देती है। असार का त्याग और सार का ग्रहण प्रतिभा का एक वरदान है जो सबके लिए सुलभ नहीं है। नई कविता में इस गुण की

परीक्षा अनायास ही हो जाती है। सच्ची कवि प्रतिभा जहाँ नवीन उपकरणों में सार असार का भेद सहज ही कर लेती है, वहाँ नये युग का बरबस आह्वान करने वाले अनेक असमर्थ कवि बुरी तरह असफल होकर रह जाते हैं और उनके पास इसके अलावा कोई चारा नहीं रह जाता कि अपनी विफलता को बौद्धिक चमत्कार द्वारा गड्डी-गलत ढंग से छिपाने का प्रयत्न करें। 'नई कविता' का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है और नये कवियों में गिरिजाकुमार का यह सौभाग्य है कि वे इससे बहुत कुछ मुक्त हैं।

शिल्प या क्रिया कल्प इस कवि का अपना वैशिष्ट्य है। इस क्षेत्र में उसका सौन्दर्य-बोध अपने समसामयिक कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। संगीत का सहज ज्ञान होने के कारण उसने नवीन स्वर लय की अनेक सूक्ष्म संयोजनाएँ प्रस्तुत करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है—और इसके लिये उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। मात्रिक छन्दों के अंतरिक विधान में अनेक बार उसने अनेक कोमल गीति-लयों का आविष्कार किया है—उधर वर्णिक छन्दों के आधार पर मुक्त छन्द के अनेक सुपाठ्य रूपों का नवीन विकास किया है। हिन्दी में मुक्त छन्द के विकास का मूल आधार प्रायः 'घनाक्षरी' ही रहा है, परन्तु गिरिजाकुमार ने सवैया के लय विधान का भी उपयोग किया है—और अनेक मात्रिक छन्दों के बंधों का भी। इस कवि का पाश्चात्य छंद विधान से भी परिचय है और नवीन संयोजनाओं की उद्भावना में इसने उसका भी यथा स्थान पूरा लाभ उठाया है। नवीन कविता गद्य की निबिड़ता में उलझकर अपना संगीत खोती जा रही है। आज जब अज्ञेय से लेकर छोटे से छोटे कवि तक व्याप्त शब्द तथा स्वर-लय के संगीत का यह दारिद्र्य नये कवियों की क्रियाविधि पर छाया हुआ है और ये कवि कविता को संगीत से मुक्त करने का झूठा दम्भ करते हुए अपने अभाव को छिपाने का निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं—गिरिजाकुमार की कविता के शब्द विधान और स्वर लय विधान में अन्त व्याप्त संगीत उनके पृथक वैशिष्ट्य का प्रमाण है। मेरा विश्वास है कि वर्तमान युग के छंद-लय शिल्पियों में उनका स्थान मूर्धा पर रहेगा।

यही बात उनकी बिम्बयोजना और अभिव्यंजना के विषय में इतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है। गिरिजाकुमार के अन्त संस्कार छायावाद के सूक्ष्म-कोमल, शतशतरंगोज्ज्वल बिम्बों से बने हुए थे—उनकी काव्य चेतना का पोषण एक ओर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के काव्य वैभव से और दूसरी ओर अंग्रेजी रोमानी कवियों की चित्रमय विभूतियों से हुआ था। कवि ने इस वैभव विलास का पूर्ण उपयोग करते हुए उसे नवीन उपकरणों से समृद्ध

किया। छायावाद के कवियो पर विशेषत छायावाद की अन्तिम प्रतिनिधि महादेवी पर नये कवियों का यह आरोप था कि उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और उपमान तथा प्रतीक रूढप्राय होने से उनकी बिम्बयोजना मे वचित्र्य नही रहा। प्रारम्भ मे गिरिजाकुमार के उपमान और बिम्ब, शृगार की प्रधानता के कारण छायावाद और रीतिकाव्य के उपमानो और बिम्बो से प्राय अभिन्न थे। उनमे नवीन स्पश तो थे किन्तु पुनरावृत्ति के दोष से वे मुक्त नही थे। धीरे धीरे उनका क्षेत्र विस्तार हुआ और नई सभ्यता के आकषक उपकरणो का सुरुचि के साथ समावेश किया गया—परम्परागत उपमान और प्रतीक नये उपमान प्रतीको के साथ मिलकर नूतन बिम्बो का निर्माण करने लगे

चदरिमा

यह भकाभक रात
चादनी उजली कि सूई मे पिरो लो ताग
चाँदनी को दिन समभकर बोलते हैं काग
हो रही ताजी सफेदी नये चूने से
पुत रहे घर द्वार
चाद पूरा साफ
आट पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नहीं चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम सा
मासल चीकने तन का
क्योंकि यह तो सामने ही दिख रहा है
रुक रहा है
यह नहीं अब तक हुआ
बरसो पुरानी बात
भूली याद

(धूप के धान, पृ० ६४)

ये बिम्ब सामान्यत कोमल हैं—किन्तु कवि में विराट और परुष बिम्बो की भी क्षमता का अभाव नही है, जहाँ विषय की माँग हुई है बिम्बो का आयाम व्यापक और स्वरूप उदात्त हो गया है। 'पृथ्वी' काव्य म तो ऐसे चित्र हैं ही, 'राम', 'हरा दश', 'युग साँझ' आदि अनेक कविताओ म भी उनका समुचित प्रयोग है।

भाषा को नवीन कथ्य के अनुरूप ढालने के प्रयत्न सभी नये कवियों ने किये हैं—गिरिजाकुमार ने तद्भव तथा देशज शब्दों के प्रयोग, अंग्रेजी के अनेक सचित्र शब्दों के अन्तर्भाव, बिम्बात्मक नवीन शब्दों के निर्माण आदि के द्वारा आधुनिक काव्य भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भाषा में इन नव्य प्रयोगों में केवल विलक्षणता की चाह नहीं है और न नया अर्थ भरने का तर्कहीन प्रयास है, अधिकांश प्रयोगों के पीछे एक कलात्मक तर्क विद्यमान है। उदाहरण के लिए चंदिरा (चन्द्रिका), चंदरिमा (चन्द्रमा की आभा), भूमानी (पृथ्वी की आभा) मटीली (मिट्टी के रंग की), गरमीली (ऊष्मायुक्त) आदि शब्द प्रयोगों को लिया जा सकता है। यह भाषा छायावाद के काव्य-संस्कारों को लेकर नवीन जीवन की अनुभूतियों को मूर्तित करने का प्रयास कर रही है काव्य परम्परा से उच्छिन्न होकर नवीन रूप गढ़ने के ऐसे अनर्गल प्रयत्न नहीं कर रही जिन से भाषा की अर्थव्यक्ति ही नष्ट हो जाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभी यह भाषा अपनी उचित निर्मिति को प्राप्त नहीं कर सकी किन्तु उसमें तो समय लगेगा। हमें तो यह देखना है कि विकास की यह दिशा सही है या नहीं। सामान्य व्यवहार की भाषा को काव्य रूप देने की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है—उसके लिए अर्थ-सौन्दर्य तथा नाद-सौन्दर्य की असाधारण पहचान आवश्यक होती है। हमारी धारणा है कि नये कवियों में गिरिजाकुमार में यह क्षमता औरों से अधिक है।

गिरिजाकुमार नये कवियों में अग्रणी हैं, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता—नई कविता में जो स्थायी काव्य-तत्त्व है उसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उनका स्थान अज्ञेय के समकक्ष है। अज्ञेय की प्रतिभा गुरुतर है, इसलिए उनकी कला में अधिक गरिमा और प्रौढ़ता है। किन्तु उनका कथ्य इतना व्यक्तिलिप्त है कि प्रायः असामाजिक और अनैतिक हो जाता है। नर नारी-सम्बन्ध उनका मुख्य विषय है, जिसमें उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक खुल खेलती है उसकी सूक्ष्मतम विवृतियाँ—चेतन और अवचेतन विज्ञान के सहारे उन्होंने की हैं। परन्तु अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी उनका अहं आत्म दान के रस से वंचित होकर पर शोषण के प्रति इतना अधिक आतुर रहता है कि बाह्य शिष्टाचार एवं शील के आडम्बर के पीछे उसकी कुरूपता नंगी हो जाती है और थोड़ा सा भी गहरा झाँकने पर एक प्रकार की वितृष्णा उत्पन्न करती है। गिरिजाकुमार में स्नेह अर्थात् आत्म-दान की प्रवृत्ति कहीं अधिक है—व्यक्ति लिप्सा की वह क्रूरता उनमें नहीं है, इसलिए उनके अहं में अधिक

मादव है और उसी अनुपात से सहज प्रगीत-तत्त्व भी अधिक है। शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार का पलडा और भी भारी है—अज्ञेय की अपक्षा इ ह अथ सौदय की पहचान अधिक है और नाद-सौदय की दृष्टि से तो तुलना का प्रश्न ही नहा उठता क्योंकि समथ कवियो मे अज्ञेय का यह पक्ष सबसे अधिक दुबल है। इस प्रकार बौद्धिक गुरुता म अज्ञेय से कही पीछे होने पर भी प्रगीत तत्त्व और शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार की कविता अधिक समद्ध है। काला तर मे, प्रचार का कोलाहल शात होने पर, 'नई कविता' का इतिहास जब वस्तुपरक दृष्टि से लिखा जाएगा, तो उसके निर्माताओ म गिरिजाकुमार का स्थान अ यतम रहेगा।

नगेन्द्र-साहित्य

नगेन्द्र-साहित्य

भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	१६ ००
देव और उनकी कविता	७ ००
रीति काव्य की भूमिका	५ ५०
विचार और अनुभूति	४ ५०
विचार और विवेचन	४ ५०
विचार और विश्लेपण	५ ५०
सियारामशरण गुप्त	५ ५०
आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य-प्रवृत्तिया	४ ००
अनुसधान और आलोचना	४ ००

नेशनल पब्लिशिग हाउस
नई सडक दिल्ली